जाति का संपूर्ण विनाश

सागर द्वारा निशुल्क वितरण

अत्त दीपो भव

Social Action Groups For Ambedkarite Reform

प्रथम संस्करण : 14 अप्रैल, 2014 बुद्धाब्द 2557
द्वितीय संस्करण : 30 जून, 2022 बुद्धाब्द 2557

सागर द्वारा निशुल्क वितरण

रचना : जाति का सम्पूर्ण विनाश

अनुवादक

SAGAR

Social Action Groups For Ambedkarite Reform

बाबा साहब डॉ. बी. आर. आंबेडकर के विश्वविख्यात अंग्रेजी भाषण
"Annihilation Of Caste" का प्रामाणिक व विश्वसनीय अनुवाद

जाति का संपूर्ण विनाश

सत्य को सत्य और असत्य को असत्य के रूप में जानो।

– बुद्ध

जो तर्क नहीं करेगा, वह धर्मांध है।
जो तर्क नहीं कर सकता, वह मूर्ख है।
जो तर्क करने का साहस नहीं करता, वह दास है।

- एच. ड्रुमोंड

लेखक

बाबा साहब डॉ. भीमराव आंबेडकर

M.A., M.Sc., D.Sc., Ph.D., L.L.D., D.Lit., Barrister-at-Law

प्राक्कथन

पंजाब में हिन्दु समाज सुधारकों ने एक सामाजिक संगठन बनाया जिस का नाम जात-पांत तोडक मंडल था। इस मंडल का उद्देश्य हिन्दुओं में जातिप्रथा को मूल रुप से समाप्त करना था। मंडल ने 25 मई 1936 को लाहौर में होने वाले अपने वार्षिक सम्मेलन का अध्यक्ष बनने के लिए डॉक्टर अंबेडकर से अनुरोध किया जिसको उन्होंने स्वीकार कर लिया। अंबेडकर ने अपने भाषण की कुछ प्रतियां भी मंडल को भेज दी।

मंडल ने अध्यक्षीय भाषण में फेरबदल करने के लिए कहा, जिसको करने से अंबेडकर ने मना कर दिया। इसका असर यह हुआ कि मंडल की स्वागत समिति ने इस सम्मेलन को ही रद्द कर दिया। इस पर डॉक्टर अंबेडकर ने टिप्पणी करते हुए लिखा कि "मैं सम्मेलन की अध्यक्षता के सम्मान की खातिर उस आजादी का परित्याग नहीं कर सकता जो प्रत्येक अध्यक्ष को अपने भाषण को तैयार करने में मिलनी चाहिए"।

डॉक्टर अंबेडकर ने अपने इस अध्यक्षीय भाषण के मौलिक स्वरुप को यथावत बनाए रखते हुए इस निबंध का पहला, दूसरा और तीसरा संस्करण 'जाति का संपूर्ण विनाश' नाम से प्रकाशित किया, जिसका हिन्दू जनता द्वारा भारी स्वागत किया गया। यह एक बहुत अच्छी पुस्तक है, प्रत्येक बुद्धिजीवी को इसे पढ़ना चाहिए।

सागर ने डॉ. बी आर अंबेडकर की मूल पुस्तक 'जाति का संपूर्ण विनाश' की प्रतियां निकाली हैं। सागर का मुख्य उद्देश्य बाबा साहब के विचारों से देश के प्रत्येक व्यक्ति को अवगत कराना है, जिससे एक समता मूलक राष्ट्र का निर्माण हो सके। इसी प्रयास में इस पुस्तक का निःशुल्क वितरण किया जा रहा है।

यह आशा की जाती है कि यह पुस्तक बाबा साहब द्वारा जाति विहीन समाज का निर्माण करने की दिशा में उठाए गए कदम को आगे बढ़ाने के लिए पाठकों को प्रेरित व उनका मार्गदर्शन करेगी।

-SAGAR-

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

लाहौर के जातपांत तोडक मंडल के लिए जो भाषण मैंने तैयार किया था, उसका हिंदू जनता द्वारा अद्‌भुत रूप से भारी स्वागत किया गया। यह भाषण मैंने मुख्य रूप से इन्हीं लोगों के लिए तैयार किया था। एक हज़ार पांच सौ प्रतियों का अंग्रेजी संस्करण इसके प्रकाशन के दो महीनों के भीतर ही समाप्त हो गया। इसका गुजराती और तमिल में अनुवाद किया गया। अब इस भाषण का मराठी, हिन्दी, पंजाबी और मलयालम में अनुवाद किया जा रहा है। अंग्रेजी पाठकों की मांग अभी भी निरंतर बनी हुई है। इसलिए इस मांग को पूरा करने के लिए दूसरा संस्करण निकालना आवश्यक हो गया है। इतिहास की दृष्टि और अनुरोध को ध्यान में रखते हुए मैंने निबंध के मौलिक स्वरूप, अर्थात भाषण के स्वरूप को यथावत् बनाए रखा, हालांकि मुझसे कहा गया था कि मैं सीधी वर्णनात्मक शैली में नया रूप दूं। इस संस्करण में मैंने दो परिशिष्ट जोड़े हैं। परिशिष्ट 1 में मैंने 'हरिजन' में अपने भाषण की समीक्षा के रूप में मिस्टर गांधी के लेखों के उत्तर में अपने विचारों को प्रकाशित किया है। गांधी के अलावा अन्य अनेक लोगों ने मेरे उन विचारों की तीखी आलोचना की है जो मैंने अपने भाषण में व्यक्त किए थे। किंतु मैंने यह महसूस किया है कि इस प्रकार की प्रतिकूल टिप्पणियों पर ध्यान देते हुए मैं अपने को केवल मिस्टर गांधी तक ही सीमित रखूं। मेरे ऐसा करने का कारण यह नहीं है कि उनकी बात में इतना वजन है कि इसका उत्तर दिया जाना चाहिए, बल्कि कारण यह है अनेक हिन्दुओं की दृष्टि में मिस्टर गांधी एक मसीहा तुल्य हैं और इतने महान हैं कि जब वे किसी बात पर कुछ कहने लगते हैं तो यह आशा की जाती है कि सब बहस खत्म हो जानी चाहिए और इस पर किसी को कुछ भी नहीं बोलना चाहिए, **किंतु संसार ऐसे विद्रोहियों का ॠणी है, जिन्होंने धर्म गुरूओं के मुंह पर ही तर्क करने का साहस किया है और जोर देकर कहा है कि आप जो कहते हैं, वही सही नहीं है। मुझे ऐसा श्रेय नहीं चाहिए जो प्रत्येक प्रगतिशील समाज को अपने विद्रोहियों को देना चाहिए।** यदि मैं हिंदुओं को इस बात का अहसास करा दूं कि मिस्टर गांधी भारत के ऐसे व्यक्ति है, जिनमें दोष व्याप्त हैं और उनके दोषों से अन्य भारतीयों की खुशहाली और प्रगति को खतरा उत्पन्न हो रहा है, तो मुझे संतोष होगा।

– बी.आर. आंबेडकर

तृतीय संस्करण की प्रस्तावना

इस निबंध का दूसरा संस्करण 1937 में प्रकाशित हुआ था और बहुत थोड़े ही समय में वह बिक गया। काफी समय से इसके नए संस्करण की मांग आ रही थी। मेरी इच्छा थी कि मैं इस निबंध को नया रूप दूं और इसमें अपने एक अन्य निबंध 'भारत में जातियां, उनका उद्‌गम और उनकी संरचना' को भी शामिल कर दूं। मेरा यह निबंध 'इंडियन एंटीक्वेरी' जनरल के मई 1917 के अंक में प्रकाशित हुआ था। किंतु मुझे समय नहीं मिल सका और ऐसा करने की संभावना भी बहुत कम है और चूंकि जनता भी लगातार इसकी मांग कर रही है, इसलिए प्रस्तुत संस्करण को इसके दूसरे संस्करण के मात्र पुनर्मुद्रण के रूप में ही प्रकाशित करके ही मुझे संतोष है।

मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि यह निबंध इतना अधिक लोकप्रिय रहा। मुझे आशा है कि यह अपने अपेक्षित उद्देश्य की पूर्ति कर सकेगा।

- बी.आर. आंबेडकर

22, पृथ्वीराज रोड़,
नई दिल्ली,
1 दिसंबर 1944

भूमिका

12 दिसम्बर 1935 को मुझे जातपांत तोडक मंडल के मंत्री माननीय संत राम का पत्र प्रात हुआ, जो इस प्रकार है:

प्रिय डॉक्टर साहब,

आपके 5 दिसम्बर के कृपा पत्र के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद। आपकी आज्ञा के बिना मैंने इसे प्रेस को दे दिया है, इसके लिए मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ। मैं समझता हूँ कि इसके प्रचारित करने में कोई हानि नहीं है। आप एक महान चिंतक हैं और मेरा यह सुविचारित मत है कि आपने जाति समस्या का जितनी गहराई से अध्ययन किया है, उतना किसी और ने नहीं किया। मुझे स्वयं और हमारे मंडल को हमेशा ही आपके विचारों से लाभ पहुंचा है। मैंने अनेक बार 'क्रांति' में इसका प्रचार और स्पष्टीकरण किया है और अनेक सम्मेलनों में इस पर भाषण भी दिए हैं। मैं आपके इस नए सूत्र, अर्थात् 'जिन धार्मिक विश्वासों पर जातिप्रथा की नींव खड़ी है, उनके अस्तित्व की समाप्ति के बिना जातपांत को तोड़ना संभव नहीं होगा' की व्याख्या को पढ़ने का बहुत उत्सुक हूँ। कृपया अपनी सुविधानुसार यथाशीघ्र विस्तार से इसकी व्याख्या करें, ताकि हम इस विचार का प्रेस और मंचों से समर्थन कर सकें। फिलहाल, मैं इस संबंध में पूरी तरह स्पष्ट नहीं हूँ।

* * * * *

हमारी प्रबंधकारिणी समिति का आग्रह है कि आप हमारे वार्षिक सम्मेलन का अध्यक्ष बनना स्वीकार करें। हम आपकी सुविधानुसार इस सम्मेलन की तारीखों में परिवर्तन कर सकते हैं। पंजाब के स्वतंत्र विचारों वाले हरिजनों की आपसे मिलने और अपनी योजनाओं पर आपसे विचार विमर्श करने की बड़ी इच्छा है। अत: यदि आप लाहौर आकर सम्मेलन की अधयक्षता करने की कृपा करें तो दो काम हो जाएंगे। हम सभी विचारधाराओं के हरिजन नेताओं को आमंत्रित करेंगे और इससे आपको उन्हें अपने विचारों से अवगत कराने का अवसर मिल जायेगा।

मंडल ने अपने सहायक मंत्री श्री इन्द्र सिंह को क्रिसमस के अवसर पर बंबई में आपसे मिलने और सारी स्थिति पर आपसे चर्चा करने के लिए नियुक्त किया है, जिससे आपको हमारे अनुरोध को स्वीकार करने के लिए राज़ी किया जा सके।

* * * * *

मुझे बताया गया था कि जातपांत तोडक मंडल सवर्ण हिन्दू समाज सुधारकों का एक संगठन है, जिसका एकमात्र उद्देश्य हिन्दुओं में जातिप्रथा को जड़ से खत्म करना है। सैद्धांतिक रूप से मैं ऐसे किसी आंदोलन में भाग लेना पंसद नहीं करता, जो सवर्ण हिन्दुओं द्वारा चलाया गया हो। सामाजिक सुधार के प्रति उनका रवैया मुझसे इतना भिन्न है कि मेरे लिए उनके साथ काम करना कठिन है। वास्तव में, मेरे और उनके विचारों में

विभिन्नताओं के कारण मुझे उनके साथ काम करना अनुकूल नहीं लगता। इसलिए जब मंडल ने पहली बार मुझसे अध्यक्षता करने का अनुरोध किया था तो मैंने उसे अस्वीकार कर दिया था। फिर भी, मंडल ने इसे मेरी अस्वीकृति नहीं माना और अपने एक सदस्य को मुझ पर निमंत्रण स्वीकार करने के लिए दबाव डालने के उद्‌देश्य से बंबई भेजा। अंत में, मैं अध्यक्षता करने के लिए तैयार हो गया। वार्षिक सम्मेलन मंडल के मुख्यालय लाहौर में होना था। सम्मेलन का आयोजन ईस्टर के अवसर पर होना था, किंतु बाद में इसे 1936 के मई मास के मध्य तक के लिए स्थगित कर दिया गया। मंडल की स्वागत समिति ने अब इस सम्मेलन को रद्द कर दिया है। इस सम्मेलन के रद्द होने की सूचना मेरे अध्यक्षीय भाषण के छापे जाने के बहुत बाद में आई। इस भाषण की प्रतियां अब मेरे पास पड़ी हैं। चूंकि मुझे अध्यक्षीय पद से यह भाषण देने का अवसर नहीं मिला, इसलिए जनता को जातिप्रथा से उत्पन्न समस्याओं पर मेरे विचारों को जानने का अवसर नहीं मिल सका। जनता मेरे विचारों को जान सके और भाषण की जो छपी प्रतियां मेरे पास पड़ी हैं उनका सदुपयोग हो सके, इस उद्देश्य से मैंने छपी प्रतियों को बाजार में बेच देने का फैसला किया है। संलग्न पृष्ठों में उसी भाषण का मूल पाठ है।

जनता को यह जानने की जिज्ञासा होगी की किन कारणों से सम्मेलन के अध यक्ष के रूप में मेरी नियुक्ति को रद्द किया गया। शुरू में भाषण की छपाई को लेकर विवाद खड़ा हुआ। मैं चाहता था कि भाषण बंबई में छपे। मंडल की यह इच्छा थी कि भाषण लाहौर में छपे, क्योंकि वहां छापने से बचत होगी। मैं इस पर सहमत नहीं हुआ और मैंने इसे बंबई में ही छापे जाने का आग्रह किया। मेरे प्रस्ताव पर सहमति की बजाए, मुझे एक पत्र प्राप्त हुआ, जिस पर मंडल के कई सदस्यों के हस्ताक्षर थे। इसमें से आगे दिए गए अंश मैं यहां प्रस्तुत करता हूँ–

27.03.1936

सम्माननीय डॉक्टर जी,

माननीय संत राम को लिखे इस मास की 24 तारीख के आपके पत्र को हमें दिखाया गया है। हमें इसे पढ़कर थोड़ी निराशा हुई। यहां जो स्थिति उत्पन्न हुई है, शायद आप इससे पूरी तरह अवगत नहीं हैं। पंजाब के प्रायः सभी हिंदू आपको इस प्रांत में आमंत्रित किए जाने के विरूद्ध हैं। जातपांत तोडक मंडल की बड़ी तीखी आलोचना हुई है और सभी और से झाड़ फटकार मिली है। सभी हिंदू नेताओं ने जिनमें भाई परमानंद, एम.एल.ए. (हिन्दू महासभा के पूर्व अध्यक्ष), महात्मा हंसराज, डा. गोकल चंद नारंग (स्थानीय स्वशासन मंत्री), राजा नरेन्द्र नाथ, एम.एल.सी. आदि शामिल है, मंडल के इस निर्णय से अपने आपको अलग कर लिया है।

इस सबके बावजूद, जातपांत तोडक मंडल, (जिसके प्रमुख नेता संत राम हैं) के सभी सदस्य किसी भी स्थिति में एकजुट रहकर चलने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हैं और

अध्यक्ष पद पर आपकी नियुक्ति के विचार को नहीं छोड़ेंगे। मंडल की बदनामी हुई है।

इन परिस्थितियों में आपका कर्तव्य हो जाता है कि आप मंडल के साथ सहयोग करें। ऐसे समय में जब उन्हें हिंदुओं की ओर से बड़ी कठिनाईयों का सामना करना पड़ रहा है, आप भी उनकी परेशानियों को बढ़ाएं तो यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण होगा।

हमें आशा है कि आप मामले पर विचार करेंगे और वही करेंगे, जिसमें हम सभी की भलाई हो।

* * * * *

इस पत्र ने मुझे भारी परेशानी में डाल दिया है। मैं नहीं समझ पाया कि मंडल मेरे भाषण की छपाई के मामले में कुछ रूपयों की खातिर मुझे क्यों रूष्ठ कर रहा है। मुझे इस पर भी विश्वास नहीं होता कि सर गोकल चंद नारंग जैसे व्यक्तियों ने मेरे अध्यक्ष चुने जाने के विरोध स्वरूप त्यागपत्र दे दिया है, क्योंकि मुझे सर गोकल चंद का निम्नलिखित पत्र प्राप्त हुआ है।

5. मोन्टगोमरी रोड, लाहौर

07.02.1936

प्रिय डॉ. आंबेडकर

मुझे जातपांत तोडक मंडल के कार्यकर्ताओं से यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपने ईस्टर की छुट्टियों के दौरान लाहौर में होने वाले उनके आगामी वार्षिक सम्मेलन की अध्यक्षता करना स्वीकार कर लिया है। यदि आप लाहौर में अपने प्रवास के दौरान मेरे यहां ठहरें तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। शेष मिलने पर

आपका

गोकुल चंद नारंग

* * * * *

सच्चाई चाहे जो कुछ भी हो, मैं इस दबाव के आगे नहीं झुका। जब मंडल ने देखा कि मैं अपना भाषण बंबई में छपवाने के लिए बराबर आग्रह कर रहा हूं। तो मंडल ने मेरे प्रस्ताव को स्वीकार करने की बजाए मुझे तार द्वारा सूचित किया कि वे माननीय हर भगवान को इस मामले में व्यक्तिगत रूप से बात करने के लिए बंबई भेज रहे हैं। माननीय हर भगवान 9 अप्रैल को बंबई आए।

जब मैं माननीय हर भगवान से मिला तो मैंने देखा की वह इस मुद्दे पर कुछ भी नहीं कहना चाहते हैं। वास्तव में उन्हें भाषण की छपाई से कोई लेना देना नहीं था। चाहे वह बंबई में छपे या लाहौर में और इसीलिए विचार विमर्श के दौरान इस बात का कोई उल्लेख भी नहीं किया। हां वह यह जानने के लिए उत्सुक थे कि भाषण की विषय

वस्तु क्या है। इससे मुझे विश्वास हो गया कि भाषण के लाहौर में छपवाने से मंडल का उद्देश्य धन बचाना नहीं, अपितु भाषण की विषय वस्तु को जानना था। मैंने उन्हें भाषण की एक प्रति दे दी। वह भाषण के कुछ अंशों को देखकर प्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने लाहौर पहुंचकर मुझे जो पत्र लिखा, वह इस प्रकार है–

लाहौर, 14 अप्रैल 1936

प्रिय डॉक्टर साहब,

मैं 12 तारीख को बंबई से यहां लौटा हूं और तभी से मैं रेल में बिताई लगातार 5–6 रातों तक सो न सकने के कारण अस्वस्थ हूं। यहां पहुंचने पर मुझे पता चला कि आप अमृतसर आए थे। यदि मैं बाहर आने–जाने के लिए ठीक रहता तो मैं आपसे मिलता। मैंने आपका भाषण अनुवाद के लिए माननीय संत राम को दे दिया है। उन्होंने इसे बहुत पसंद किया है, किंतु उन्हें विश्वास नहीं है कि 25 तारीख से पहले इसे छापे जाने के लिए वह उसका अनुवाद कर सकेंगे। कुछ भी हो इसका व्यापक प्रचार होगा और हमें विश्वास हैं कि यह सोए हुए हिंदुओं को जगाएगा।

बंबई में जिस भाषण के अंश की ओर मैंने संकेत किया था, उसे हमारे कुछ मित्रों ने पढ़ा। इस पर उनकी कुछ शंकाएं हैं और हममें जो लोग बिना किसी अप्रिय घटना के सम्मेलन को समाप्त करना चाहते है, उनकी इच्छा है कि कम से कम वेद शब्द को फिलहाल छोड़ दिया जाए। इसका निर्णय मैं आप पर छोड़ता हूं। फिर भी मुझे आशा है कि मेरी इस बात को आप अन्यथा न लेंगे और हमें भाषण की एक हज़ार प्रतियां उपलब्ध करा देंगे। हम अवश्य ही इनकी कीमत आपको चुका देंगे। इस आशय का एक तार आज मैंने आपको भेजा है। सौ रूपये का एक चैक इस पत्र के साथ संलग्न हैं। कृपया इसकी पावती भेजें और हमें यथासमय अपने बिल भी भेज दें।

मैंने स्वागत समिति की एक बैठक बुलाई है। मैं उसके निर्णय से तत्काल आपको सूचित करूंगा। आपने भाषण को तैयार करने में जो भारी कष्ट उठाया है उसके लिए कृपया मेरा हार्दिक धन्यवाद स्वीकार करें। आपकी कृतज्ञता के लिए हम निश्चय ही बहुत ऋणी हैं।

आपका

हर भगवान

पनुश्च – कृपया भाषण के छपते ही तत्काल उसकी प्रतियां यात्री गाड़ी से भेज दें, ताकि उन प्रतियों को प्रकाशन के लिए समाचार पत्रों को भेज दिया जाए।

* * * * *

तदनुसार मैंने एक हज़ार प्रतियां छापने के आदेश के साथ अपनी पांडुलिपि मुद्रक को सौंप दी। आठ दिन के बाद मुझे माननीय हर भगवान का एक और पत्र प्राप्त

हुआ, जिसकी प्रतिलिपि नीचे प्रस्तुत है।

लाहौर, 22.4.36

प्रिय डॉक्टर आंबेडकर,

हमें आपका तार और पत्र प्राप्त हुआ। इसके लिए कृपया हमारा धन्यवाद स्वीकार करें। आपकी इच्छानुसार हमने सम्मेलन को फिर स्थगित कर दिया है, किंतु हम महसूस करते हैं कि इसे 25 तथा 26 तारीख को आयोजित करना अधिक बेहतर होगा, क्योंकि पंजाब में मौसम दिन प्रतिदन गर्म होता जा रहा है। मई के मध्य में यह बहुत गर्म हो जाएगा और दिन के समय बैठकें करना बहुत सुखद और आरामदायक नहीं रहेगा। फिर भी यदि यह सम्मेलन मई के मध्य में होता है तो हम इसे यथासंभव आरामदायक बनाने के लिए भरसक प्रयत्न करेंगे।

किंतु एक बात है जिसे हम आपकी जानकारी में लाने के लिए विवश हैं। आपको याद होगा कि जब मैंने धर्म परिवर्तन के विषय पर आपकी घोषणा के संबंध में अपने कुछ लोगों द्वारा उठाई आशंकाओं की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया था तो आपने बताया था कि यह बात निःसंदेह मंडल के कार्यक्षेत्र से बाहर है और उसके संबंध में आपका हमारे मंच से कुछ भी कहने का इरादा नहीं है। इसके साथ ही जब आपने भाषण की पांडुलिपि मुझे दी तो आपने आश्वासन दिया था कि वही आपके भाषण का मुख्य अंश है और आप केवल दो या तीन अंतिम पैरे उसमें जोड़ना चाहते हैं। आपके भाषण की दूसरी किस्त मिलने पर यह देखकर हम दंग रह गए कि यह भाषण इतना लंबा हो जाएगा कि बहुत कम लोग ही इस सारे भाषण को पढ़ना चाहेंगे। इसके अलावा आपने अपने भाषण में एक से अधिक बार यह कहा है कि मैंने हिंदू समाज से अलग होने का निर्णय कर लिया है और एक हिन्दू के रूप में यह मेरा अंतिम भाषण है। आपने अनावश्यक रूप से वेदों और हिन्दुओं के अन्य धार्मिक ग्रंथों की नैतिकता तथा उनके औचित्य पर प्रहार किया है और हिन्दू धर्म के तकनीकी पक्ष पर विस्तारपूर्वक चर्चा कि है जिनका विवादास्पद समस्या से कतई कोई संबंध नहीं है। इससे कुछ परिच्छेद तो असंगत और अप्रासंगिक हो गए हैं। यदि आप अपने भाषण को उसी अंश तक सीमित रखते जो आपने मुझे दिया था या अगर उसमें कोई वृद्धि करना आवश्यक ही था तो वह भी वहीं तक सीमित रहती, जो आपने ब्राह्मणवाद आदि पर लिखा है, तो इससे हमें बड़ी प्रसन्नता होती। अंतिम अंश जो हिन्दू धर्म के सम्पूर्ण विनाश के संबंध में है और हिन्दुओं के पवित्र ग्रंथों की नैतिकता पर संदेह व्यक्त करता है तथा हिंदू समाज को छोड़ देने के आपके इरादे की ओर संकेत करता है, मुझे प्रासंगिक प्रतीत नहीं होता।

अतः मैं सम्मेलन के लिए उत्तरदायी लोगों की ओर से बड़ी विनम्रता के साथ आपसे अनुरोध करता हूं कि आप ऊपर संदर्भित परिच्छेदों को छोड़ दें और भाषण को वही समाप्त कर दें, जहां तक आपने मुझे दिया था, या आप चाहें तो ब्राह्मणवाद तथा कुछ

पैरे उसमें जोड़ दें। हम नहीं समझते कि भाषण को अनावश्यक रूप से उत्तेजनात्मक और कष्टकारी बनाने में कोई बुद्धिमानी है। हममें से कई लोग आपकी भावनाओं का समर्थन करते हैं और हिंदू धर्म के पुनर्निर्माण के लिए आपका मार्गदर्शन चाहते हैं। यदि आप अपने विचारों के लोगों को आपस में मिलाने का निर्णय करते तो बड़ी संख्या में लोग आपके सुधारवादी कार्यकर्ताओं में शामिल हो जाते।

वास्तव में, हमने सोचा था कि आप जातिप्रथा की बुराईयों को समाप्त करने में हमारा मार्ग दर्शन करेंगे, विशेषकर जब आपने इस विषय का इतना गहन अध्ययन किया है। हमारा विचार था कि आप एक क्रांति लाकर इस दिशा में किए जा रहे महान प्रयासों के केंद्र बिंदु बनकर हमारे हाथ मजबूत करेंगे, किंतु आपने घोषणा जिस रूप में की है उसके दोहराए जाने से इसकी शक्ति समाप्त हो जाती है और यह एक घिसी पिटी चीज़ बनकर रह जाती है। ऐसी परिस्थितियों में मैं आपसे अनुरोध करूंगा कि आप सारे मामले पर फिर से विचार करें और यह कहकर आप अपने भाषण को अधिक प्रभावी बनायें कि यदि हिंदू लोग जातिप्रथा को समाप्त करने की दिशा में ईमानदारी से काम करने के इच्छुक हैं, चाहे उन्हें इसके लिए अपने सगे संबंधियों और धार्मिक मान्यताओं को ही तिलांजित क्यों न देनी पड़े, तो मुझे इस कार्य की अगुवाई करने में प्रसन्नता होगी। यदि आप ऐसा करते हैं तो मुझे आशा है कि आपको ऐसे प्रयास में पंजाब से तत्काल अनुकूल प्रतिक्रिया प्राप्त होगी।

यदि आप ऐसे समय पर हमारी सहायता करेंगे तो मैं आपका आभारी रहूंगा। क्योंकि हम पहले ही भारी खर्च कर चुके हैं और बड़े असमंजस की स्थिति में है। कृपया हमें वापसी डाक से सूचित करें कि क्या आपने भाषण को उपरोक्तानुसार सीमित करने की कृपा की है। यदि आप फिर भी भाषण को संपूर्ण रूप में छापने का आग्रह करते हैं, तो हमें खेद है कि हमारे लिए सम्मेलन का आयोजन करना संभव और कदाचित उपयुक्त नहीं होगा और हम चाहेंगे कि इसे अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया जाए। हालांकि ऐसा करने में हमें लोगों की सद्भावना से हाथ धोना पड़ेगा, क्योंकि यह सम्मेलन बार–बार स्थगित करना पड़ा है। फिर भी हम यह उल्लेख करना चाहते हैं कि आपने जातिप्रथा पर ऐसा बढ़िया प्रबंध लिखकर हमारे हृदय में एक स्थान बना लिया है। मैं कह सकता हूं कि यह अब तक लिखे गए अन्य सभी शोध प्रबंधों से बढ़कर है और यह एक मूल्यवान विरासत के रूप में सिद्ध होगा। आपने इसके तैयार करने में जो कष्ट उठाया है, उसके लिए हम सदा आपके ऋणी रहेंगे।

आपकी कृपा के लिए बहुत–बहुत धन्यवाद।

शुभकामनाओं सहित,

आपका

हर भगवान

इस पत्र को मैंने जो उत्तर भेजा, वह इस प्रकार है:

27 अप्रैल 1936

प्रिय माननीय हर भगवान,

मुझे आपका 22 अप्रैल का पत्र प्राप्त हुआ। मुझे खेद है कि यदि मैंने अपने भाषण को संपूर्ण रूप में छापे जाने का आग्रह किया तो जातपांत तोडक मंडल की स्वागत समिति सम्मेलन को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर देगी। इसके उत्तर में मैं सूचित करना चाहता हूं कि यदि मंडल मेरे भाषण में अपनी परिस्थितियों के अनुकूल काट छांट करने पर ज़ोर देगा तो मैं भी सम्मेलन को रद्द करना चाहूंगा। **मैं अस्पष्ट शब्दों का प्रयोग करना पसंद नहीं करता।** आप मेरे इस निर्णय को पसंद नहीं करेंगे। किंतु मैं सम्मेलन की अध्यक्षता करने के सम्मान की खातिर उस आज़ादी का परित्याग नहीं कर सकता, जो प्रत्येक अध्यक्ष को अपने भाषण को तैयार करने में मिलनी चाहिए। मैं मंडल को खुश करने के लिए अपने उस कर्तव्य को भी तिलांजलि नहीं दे सकता, जो किसी सम्मेलन की अध्यक्षता करने वाले व्यक्ति को सही और उचित मार्गदर्शन करने के लिए प्राप्त होती है। यह एक सिद्धांत का प्रश्न है और मैं महसूस करता हूं कि मुझे किसी भी प्रकार से इससे समझौता नहीं करना चाहिए।

स्वागत समिति ने जो निर्णय लिया है, मैं उसके औचित्य के बारे में किसी विवाद में नहीं पड़ना चाहता था, किंतु आपने ऐसे कुछ कारण दिए है जिनसे मुझ पर दोष आरोपित होता है, इसलिए मैं उनका उत्तर देने के लिए बाध्य हूं। सर्वप्रथम, मुझे उस धारणा को दूर कर देना चाहिए कि भाषण के उस अंश में व्यक्त विचार, जिन पर समिति ने आपत्ति की है, मंडल के सामने अचानक ही उपस्थित हुए हैं। मुझे विश्वास है कि माननीय संत राम इस बात की पुष्टि करेंगे। उनके एक पत्र के उत्तर में मैंने कहा था कि **जातिप्रथा को तोड़ने का वास्तविक तरीका अंतर्जातीय भोज और अंतर्जातीय विवाह नहीं है, बल्कि उन धार्मिक धारणाओं को विध्वंश करना है, जिन पर जाति की नींव रखी गई है** और माननीय सतं राम ने इसके प्रत्युत्तर में मुझसे उस बात को स्पष्ट करने को कहा था और माना था कि यह एक नवीन दृष्टिकोण है। माननीय संत राम के इस अनुरोध के उत्तर में मैंने सोचा कि उनको लिखे गए अपने पत्र के एक वाक्य में जो बात मैंने कही थी, उसे अपने भाषण में विस्तार से समझा देना चाहिए। इसलिए आप यह नहीं कह सकते कि जो विचार मैंने व्यक्त किए हैं, वे नए हैं। किसी भी प्रकार से ये विचार माननीय संत राम जो आपके मंडल की जान और उसके प्रमुख मार्गदर्शक हैं, के लिए नए नहीं हैं, परंतु मैं इससे भी आगे यह कहता हूं कि मैंने अपने भाषण का यह अंश केवल इसलिए नहीं लिखा है कि मैंने ऐसा करना वांछनीय समझा है, बल्कि इसलिए

लिखा है कि तर्क को पूरा करने के लिए ऐसा करना नितांत आवश्यक है। मुझे यह पढ़कर आश्चर्य हुआ कि भाषण के जिस अंश पर आपकी समिति को आपत्ति है, उसे आप असंगत और अप्रासंगिक बताते हैं। मैं बताना चाहता हूं कि मैं एक वकील हूं और प्रासंगिकता के नियमों को उतनी अच्छी तरह जानता हूं, जितना आपकी समिति का कोई सदस्य जानता है। मैं ज़ोर देकर कहता हूं कि जिस अंश पर आपत्ति की गई है वह न केवल सबसे अधिक प्रासंगिक है, बल्कि महत्वपूर्ण भी है। भाषण के उसी अंश में मैंने जातिप्रथा को नष्ट करने के सर्वोत्तम उपायों का विवेचन किया है। यह हो सकता है की मैं जातिप्रथा को नष्ट करने के सर्वोत्तम उपाय के रूप में जिस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं वह चौंकाने वाला और कष्टकारी हो। आपको यह कहने का अधिकार है कि मेरा विश्लेषण गलत है। किंतु आप यह नहीं कह सकते कि जातिप्रथा की समस्या से संबंधित किसी भाषण में मुझे इस बात की छूट नहीं है कि मैं इस मुद्दे पर विचार नहीं करूं कि जातिप्रथा को कैसे नष्ट किया जा सकता है।

आपकी अन्य शिकायत भाषण की लंबाई को लेकर है। मैंने स्वयं भाषण में ही इस आरोप के दोष को स्वीकार किया है। किंतु इसके लिए वास्तविक जिम्मेदार कौन है? मुझे खेद है कि आप से देर में संपर्क हुआ, नहीं तो आपको इस बात की जानकारी हो जाती कि मूल रूप से मैंने अपनी ही सुविधा के लिए एक संक्षिप्त भाषण लिखा था, क्योंकि एक विस्तृत शोध-प्रबंध तैयार करने का न तो मेरे पास समय ही था, और न ही शक्ति थी। मंडल ने ही मुझसे इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डालने का अनुरोध किया था और मंडल ने ही जातिप्रथा के संबंध में प्रश्नों की एक सूची मुझे दी थी तथा मुझसे अनुरोध किया था कि मैं अपने भाषण में इनका उत्तर दूं, क्योंकि प्रायः इन्हीं प्रश्नों को मंडल तथा उसके विरोधियों के बीच विवाद में उठाया जाता है और मंडल को इनका संतोषजनक उत्तर देने में कठिनाई होती है। इस संबंध में मंडल की इच्छाओं की पूर्ति करने के प्रयास में भाषण इस सीमा तक लंबा हो गया है। जो कुछ मैंने कहा है, इसे देखते हुए मुझे विश्वास है कि आप इस बात से सहमत होंगे कि भाषण के लंबा होने का दोष मेरा नहीं है।

मुझे यह आशा नहीं थी कि आपका मंडल इससे इतना परेशान होगा, **क्योंकि मैंने हिंदू धर्म के विनाश की बात कही है।** मैं समझता था कि **केवल मूर्ख ही शब्दों से घबराते हैं।** कितुं मैंने स्पष्ट करने का भारी प्रयास किया है कि हिन्दू धर्म और हिन्दू धर्म के विनाश से मेरा क्या अभिप्राय है।

मुझे विश्वास है कि मेरा भाषण पढ़ने के बाद कोई भी व्यक्ति मुझे गलत नहीं समझ सकेगा। साथ में दिए गए स्पष्टीकरण के बावजूद आपका मंडल मात्र धर्म के

विनाश आदि शब्दों से इतना भयभीत हो गया, इससे मंडल के प्रति मेरी श्रद्धा में कोई वृद्धि नहीं हुई। ऐसे व्यक्तियों के प्रति किसी को भी कोई श्रद्धा या सम्मान नहीं हो सकता, जो सुधारक बनकर भी उस स्थिति के तर्कपूर्ण परिणामों को देखना भी पसंद नहीं करते। इन्हें अकेला ही चलने दो।

आप मानेंगे कि मैंने अपने भाषण को तैयार करने में किसी भी प्रकार से सीमित होना कभी स्वीकार नहीं किया और इस प्रश्न पर कि भाषण में क्या होना चाहिए और क्या नहीं, मेरे और मंडल के बीच विचार-विमर्श नहीं हुआ। मैं सदा यह मानकर चला हूं कि मैं अपने भाषण में उस विषय पर अपने विचारों को व्यक्त करने में स्वतंत्र हूं। वास्तव में 9 अप्रैल को बंबई में आपके आने तक मंडल को यह पता नहीं था कि मैं किस प्रकार का भाषण तैयार कर रहा हूं। आप जब बंबई आए तो मैंने बताया था कि मुझे इस बात की कोई इच्छा नहीं है कि मैं अछूत जातियों द्वारा धर्म परिवर्तन के संबंध में अपने विचारों की वकालत करने के लिए मंच का उपयोग करूं। मैं समझता हूं कि मैंने भाषण को तैयार करने में ईमानदारी से उस वायदे को निभाया है। अप्रत्यक्ष रूप से एक सरसरी तौर पर दिए गए इस संदर्भ के अलावा कि “मुझे अफसोस है कि मैं यहां नहीं रहूंगा.. .” आदि, के अलावा मैंने अपने भाषण में इस विषय के बारे में कुछ नहीं कहा है। जब मैं यह देखता हूं कि आपको इस प्रकार के सरसरी और इतने अप्रत्यक्ष संदर्भ पर भी आपत्ति है तो मैं यह प्रश्न पूछने के लिए बाध्य हूं कि क्या आपने यह सोचा है कि मैं आपके सम्मेलन की अध्यक्षता की खातिर अछूत वर्गों द्वारा धर्म परिवर्तन संबंधी अपने विचारों को छोड़ने या स्थगित रखने के लिए सहमत हो जाऊंगा? यदि आपने ऐसा सोचा है, यदि आपमें से कोई इस बात को संकेत भी कर देता कि आप मुझे अध्यक्ष चुनकर जो सम्मान दे रहे हैं, उसके बदले में मुझे धर्म-परिवर्तन के अपने कार्यक्रम में अपने विश्वास का परित्याग करना पड़ेगा तो में आपको स्पष्ट शब्दों में बता देता कि मुझे आपके द्वारा दिए जाने वाले किसी सम्मान की अपेक्षा अपने विश्वास की कहीं अधिक परवाह है।

आपके 14 तारीख के पत्र के बाद आपका यह पत्र मेरे लिए एक आश्चर्य है। मुझे विश्वास है कि जो कोई भी इन्हें पढ़ेगा, ऐसा ही महसूस करेगा। स्वागत समिति द्वारा इस प्रकार के अचानक रुख में परिवर्तन करने के लिए मैं उत्तरदायी नहीं हो सकता। जब 14 तारीख को आपने पत्र लिखा था तो उस समय समिति के सामने जो कच्चा प्रारूप था, उसमें और अंतिम प्रारूप जिस पर आपने अपने पत्र में स्वागत समिति का निर्णय सूचित किया था के सार रूप में कोई अंतर नहीं है। आप अंतिम प्रारूप में एक भी ऐसा नया विचार नहीं बता सकते जो पहले वाले प्रारूप में न हो। वे ही समान विचार हैं। अंतर

केवल यह है कि उन्हें अंतिम प्रारूप में अधिक विस्तार के साथ रखा गया है। यदि भाषण में कोई आपत्तिजनक बात थी तो आप उसे 14 तारीख को बता सकते थे। किंतु आपने ऐसा नहीं किया। उल्टे आपने मुझसे एक हज़ार प्रतियां छपवाने के लिए कहा और यह बात मुझ पर छोड़ दी कि मैं आपके द्वारा सुझाए गए मौलिक परिवर्तनों को स्वीकार करूं या न करूं। तदनुसार मैंने एक हज़ार प्रतियां छपवा ली, जो अब मेरे पास पड़ी हैं। आठ दिन बाद आप यह बताने के लिए लिखते हैं कि आपको भाषण पर ऐतराज है और यदि उसमें संशोधान नहीं किया गया तो सम्मेलन रद्द कर दिया जाएगा। आपको ज्ञात होना चाहिए था कि भाषण में परिवर्तन की कोई आशा नहीं है। जब आप बंबई में थे तो मैंने आपको बताया था कि मैं उसमें एक विराम का भी परिवतर्न नहीं करूगां और **अपने भाषण को किसी भी तरह सेंसर किए जाने की अनुमति नहीं दूंगा।** आपको मेरे भाषण को जैसा वह मेरे पास से आएगा वैसा ही स्वीकार करना होगा। मैंने आपको यह भी कहा था कि भाषण में व्यक्त विचारों की जिम्मेदारी पूर्णतः मेरी होगी और यदि सम्मेलन उन्हें पसंद नहीं करेगा और उनकी निंदा करने का प्रस्ताव पास करेगा तो भी कोई हर्ज न होगा। मैं आपके मंडल को अपने विचारों की जिम्मेदारी के भार से मुक्त करने और साथ ही अपने आपको सम्मेलन के साथ अधिक न उलझाने के लिए इतना आतुर था कि मैंने आपको सुझाव दिया था कि मेरी इच्छा है कि मेरे भाषण को अध्यक्षीय भाषण के रूप में नहीं, बल्कि उद्घाटन भाषण के रूप में माना जाए और मंडल की अध्यक्षता के लिए किसी और व्यक्ति की तलाश कर लें तथा प्रस्तावों से निबट लें। 14 तारीख को आपकी समिति के अलावा और कोई भी व्यक्ति निर्णय लेने की बेहतर स्थिति में नहीं था। किंतु समिति ऐसा नहीं कर सकी और इस दौरान मुझे छपाई की लागत उठानी पड़ गई, जिसे मुझे विश्वास है कि आपकी समिति की थोड़ी अधिक दृढ़ता से बचाया जा सकता था।

मेरा विश्वास है कि मेरे भाषण में जो विचार व्यक्त किए गए हैं उनका आपकी समिति से कोई लेना-देना नहीं है। अनेक कारणों से मुझे विश्वास करना पड़ रहा है कि अमृतसर में आयोजित सिख प्रचार कांग्रेस में मेरी मौजूदगी, स्वागत समिति द्वारा किए गए निर्णय का एक बड़ा कारण थी। समिति ने 14 और 22 अप्रैल के बीच अपने रुख में जो अचानक परिवर्तन किया उसका और कोई संतोषजनक स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। फिर भी मैं अब इस विवाद को अधिक लंबा नहीं खींचना चाहता और आपसे अनुरोध करता हूं कि आप तत्काल घोषणा कर दें कि मेरी अध्यक्षता में होने वाले सम्मेलन का अधिवेशन रद्द हो गया है। अब सारी गरिमा समाप्त हो चुकी है और यदि आपकी समिति मेरे भाषण को इसके वर्तमान संपूर्ण रूप में स्वीकार करने के लिए सहमत भी हो जाए तब भी मैं इसकी अध्यक्षता नहीं करूंगा। भाषण तैयार करने में उठाए गए मेरे कष्टों के

लिए आपने जो सराहना की है उसके लिए मैं धन्यवाद देता हूं। अगर किसी को नहीं तो मुझे इस श्रम से निश्चय ही लाभ मिला हैं। मुझे खेद केवल इसलिए है कि मुझे ऐसे समय पर इतना कठोर परिश्रम करना पड़ा जिसे मेरा स्वास्थ्य सहन नहीं कर सकता था।

आपका

–बी.आर. आंबेडकर

* * * * *

इस पत्राचार से उन कारणों का पता चल जाएगा, जिनकी वजह से मंडल द्वारा अध्यक्ष के रूप में मेरी नियुक्ति रद्द की गई थी और पाठक यह जानने की स्थिति में होंगे कि इसका दोष किसको दिया जाना उचित है। मैं समझता हूं कि यह पहला अवसर है जबकि स्वागत समिति द्वारा किसी अध्यक्ष की नियुक्ति को इसलिए रद्द किया गया है, क्योंकि वह अध्यक्ष के विचारों का अनुमोदन नहीं करती। चाहे ऐसा हो या न हो, किंतु निश्चय ही मेरे जीवन में यह पहला अवसर है जबकि सवर्ण हिंदुओं के किसी सम्मेलन की अध्यक्षता करने के लिए मुझे आमंत्रित किया गया था। मुझे अफसोस है कि एक त्रासदी में इसका अंत हुआ। किंतु ऐसे कठोर संबंधों से कोई भी क्या आशा कर सकता है, जहां सवर्ण हिंदुओं के सुधारवादी आरै **अछूतों के आत्म–सम्मानी वर्ग** के बीच सबंध ं इतने कठारे हों कि सवर्ण हिंदुओं को अपने कट्टरपंथी साथियों से अलग होने की कोई इच्छा न हो और आत्म–सम्मानी अछूत वर्ग के पास सुधारों पर जोर देने के अलावा कोई विकल्प न हो।

– बी.आर. आंबेडकर

राजगृह, दादर, बंबई–14,

15 मई 1936

जात-पात-तोडक मंडल लाहौर
के वार्षिक सम्मेलन 1936

के लिए

डॉ. बी.आर. आंबेडकर

द्वारा

तैयार किया गया भाषण

लेकिन
दिया नहीं गया

यह भाषण समिति द्वारा सम्मेलन को इस आधार पर रद्द कर दिए जाने के परिणामस्वरूप नहीं दिया जा सका कि भाषण में व्यक्त विचार सम्मेलन को असहनीय हैं।

मित्रों,

मैं जात–पात तोड़क मंडल के सदस्यों के लिए हृदय से क्षमा प्रार्थी हूं, जिन्होंने इस सम्मेलन की अध्यक्षता करने के लिए मुझे आमंत्रित करने की महती कृपा की है। मुझे यकीन है कि अध्यक्ष के रूप में मेरा चुनाव करने पर उनसे अनेक प्रश्न पूछे जाएंगे। मंडल को इस बात को स्पष्ट करने के लिए कहा जाएगा की उसने लाहौर में हो रहे समारोह की अध्यक्षता करने के लिए बंबई से किसी व्यक्ति को क्यों बुलाया है। मुझे विश्वास है कि मंडल को इस समारोह की अध्यक्षता करने के लिए मुझसे कहीं अधिक योग्य व्यक्ति आसानी से मिल सकता था। **मैंने हिंदुओं की आलोचना की है। मैंने गांधी के प्रभुत्व पर संदेह प्रकट किया है, जिन्हें वे श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। वे मुझसे घृणा करते हैं। उनके लिए मैं गुप्त शत्रु हूं।** इसमें संदेह नहीं कि राजनीतिक मनोवृत्ति के हिन्दू इस मंडल से इस बात का स्पष्टीकरण मांगेगे कि इस सम्मानजनक पद के लिए मुझे क्यों बुलाया गया है। यह एक बड़े साहस का काम है। अगर कुछ राजनीतिक हिन्दू इसे अपमान समझते हैं तो मुझे इस पर कोई आश्चर्य नहीं होगा। इस पद पर मेरे चुनाव से निश्चय ही धार्मिक प्रवृत्ति के सामान्य हिन्दुओं को प्रसन्नता नहीं होगी। मंडल से इस बात को स्पष्ट करने के लिए कहा जाएगा कि उसने अध्यक्ष चुनने में शास्त्रीय निषेधादेश की अवज्ञा क्यों की। शास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण को ही तीन वर्णों का गुरु नियुक्त किया जाता है। 'वर्णानाम ब्राह्मणों गुरू' यही शास्त्रों का निर्देश है। इसलिए मंडल जानता है कि एक हिन्दू को किससे शिक्षा लेनी चाहिए और किससे नहीं। शास्त्र किसी हिन्दू को गुरु रूप में किसी भी ऐसे व्यक्ति को मात्र इसलिए कि वह ज्ञानी है, स्वीकार करने की अनुमति नहीं देते। यह बात महाराष्ट्र के एक ब्राह्मण संत रामदास ने काफी स्पष्ट कर दी थी, जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने शिवाजी को हिन्दू राज की स्थापना के लिए प्रेरित किया था। रामदास 'दासबोध' नाम की अपनी मराठी काव्य रचना में जो एक सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक प्रबंध है हिंदुओं को संबोधित करते हुए पूछते हैं कि क्या हम किसी अन्त्यज को इस कारण से अपना गुरू मान सकते है कि वह एक पंडित (अर्थात् विद्वान) है। वह उत्तर देते हैं, नहीं। इन प्रश्नों का क्या उत्तर दिया जाए, इस मामले को मैं मंडल पर छोड़ देता हूं। मंडल उन कारणों को बहुत अच्छी तरह जानता है कि क्यों उन्हें अध्यक्ष के लिए बंबई की यात्रा करनी पड़ी और ऐसे व्यक्ति को इसके लिए निर्धारित करना पड़ा जो हिन्दुओं का इतना विरोधी हो तथा अपने स्तर को इतना नीचे गिराकर एक अन्त्यज, अर्थात् अछूत को सर्वर्णों की सभा में भाषण देने के लिए आमंत्रित करना पड़ा। जहां तक मेरा प्रश्न है मैं कहना चाहूंगा कि मैंने इस निमंत्रण को अपनी तथा अपने अनेक अछूत साथियों की इच्छा के विरूद्ध स्वीकार किया है। मैं जानता हूं कि हिन्दू मुझसे उखड़े हुए हैं? मैं जानता

हूं कि मैं उनके लिए स्वीकार्य व्यक्ति नहीं हूं। यह सब कुछ जानते हुए मैंने जानबूझकर अपने आपको उनसे दूर रखा है। मेरी उन्हें कष्ट पहुंचाने की कोई इच्छा नहीं है। मैं अपने ही मंच से अपने ये विचार रख चुका हूं। इससे पहले ही काफी ईर्ष्या और उत्तेजना फैल चुकी है। **मेरी जिस बात को हिन्दू सुन रहे हैं उसे उनके मंच से उनके सामने कहने की मेरी कोई इच्छा नहीं है।** मैं अपनी नहीं, बल्कि आपकी इच्छा से यहां आया हूं। आप समाज सुधार के काम में लगे हैं। इस कार्य ने हमेशा ही मुझे प्रेरणा दी है और इसी कारण से मैंने महसूस किया है कि मुझे इस कार्य में सहायता देने के अवसर को नहीं छोड़ना चाहिए, विशेषकर ऐसे समय जब कि आप समझते हैं कि मैं इसमें सहायता कर सकता हूं। मैं आज जो कुछ कहने जा रहा हूं क्या उससे आपको उस समस्या को सुलझाने में जिससे आप जूझ रहे हैं, किसी प्रकार से कोई सहायता मिलेगी इसका निर्णय आप करें। मैं जो कुछ करने की आशा करता हूं, वह यही है कि मैं इस समस्या पर अपने विचार आपके सामने रखूं।

(2)

भारत में समाज सुधार का मार्ग स्वर्ग के मार्ग के समान है और इस कार्य में अनेक कठिनाईयां हैं। भारत में समाज सुधार कार्य में सहायक मित्र कम और आलोचक अधिक हैं। आलोचकों के दो स्पष्ट वर्ग हैं। एक वर्ग में राजनीतिक सुधारक हैं और दूसरे में समाजवादी।

एक समय था जब यह माना जाता था कि सामाजिक कुशलता के बिना अन्य कार्य क्षेत्रों में प्रगति असंभव है। कुप्रथाओं से फैली बुराईयों के कारण हिन्दू समाज की कार्य कुशलता समाप्त हो चुकी थी। **अब इन बुराईयों को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए अनवरत प्रयास करने होंगे।** इस तथ्य को समझकर ही राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म के साथ ही सामाजिक सम्मेलन की भी स्थापना हुई थी। जहां कांग्रेस का संबंध देश के राजनीतिक संगठन में कमजोर तथ्यों को परिभाषित करना था, वहां सामाजिक सम्मेलन हिन्दू समाज के सामाजिक संगठन में कमजोर बातों को दूर करने में लगा हुआ था। कुछ समय तक कांग्रेस और सम्मेलन ने एक सामान्य क्रियाकलाप के दो अंगों के रूप में कार्य किया और उनके वार्षिक अधिवेशन भी एक ही पंडाल में होते थे। किंतु शीघ्र ही ये दो अंग दो दलों में बदल गए। एक राजनीतिक सुधार और दूसरा सामाजिक सुधार दल। इनके बीच उग्र विवाद उठ खड़े हुए। राजनीतिक सुधार दल, राष्ट्रीय कांग्रेस का समर्थन करता था और सामाजिक सुधार दल सामाजिक सम्मेलन का। इस प्रकार दो संस्थाएं दो विरोधी गुट बन गए। मुद्दा यह था कि क्या सामाजिक सुधार राजनीतिक सुधारों से पहले होने चाहिए। एक दशक तक दोनों शक्तियों का संतुलन समान रूप से बना रहा और उनमें

किसी भी पक्ष की विजय के बिना लड़ाई चलती रही। किंतु यह स्पष्ट था कि सामाजिक सम्मेलन का भाग्य तेजी से अस्त हो रहा था। जिन सज्जनों ने सामाजिक सम्मेलन के अधिवेशनों की अध्यक्षता की थी, वे इस बात से दुखी थे कि बहुसंख्यक शिक्षित हिन्दू राजनीतिक उत्थान के पक्षधर हैं और सामाजिक सुधारों के प्रति उदासीन हैं। कांग्रेस में उपस्थित होने वाले लोगों की संख्या बहुत बड़ी थी। जो लोग उसमें उपस्थित नहीं हुए, उनकी सहानुभूति इसके साथ थी तथा उनकी संख्या बहुत कम थी। इस उदासीनता और कार्यकर्ताओं में हुई कमी के शीघ्र बाद राजनीतिज्ञों की ओर से इसका सक्रिय विरोध आरंभ हो गया। कांग्रेस ने शिष्टता के नाते सामाजिक सम्मेलन को अपने पंडाल का प्रयोग करने की जो अनुमति दे रखी थी, दिवंगत तिलक के नेतृत्व में उसे वापस ले लिया गया और शत्रुता की भावना इतनी गहरी हो गई कि जब सामाजिक सम्मेलन ने अपना पंडाल खड़ा करने की इच्छा की तो इसके विरोधियों ने पंडाल को जला डालने की धमकी दी। इस प्रकार समय के साथ-साथ राजनीतिक सुधार के पक्ष वाले दल की जीत हुई और सामाजिक सम्मेलन गायब हो गया और लोग उसे भूल गए। इलाहाबाद में हुए कांग्रेस के आठवें अधिवेशन के अध्यक्ष के रूप में माननीय डब्ल्यू.सी. बनर्जी ने जो भाषण दिया था, वह सामाजिक सम्मेलन की मृत्यु पर पढ़े गए शोक संदेश जैसा लगता है। वह कांग्रेस की प्रवृत्ति का इतना द्योतक है कि मैं उससे यहां एक उद्धरण दे रहा हूं। माननीय बनर्जी ने कहा था–

"मैं ऐसे लोगों की बात सुनने को बिल्कुल तैयार नहीं हूं। जो यह कहते हैं कि अपनी सामाजिक प्रणाली में सुधार नहीं करेंगे, जब तक हम राजनीतिक सुधारों के योग्य नहीं हो सकेंगे। मुझे दोनों के बीच कोई संबंध नहीं दिखाई देता।... क्या हम (राजनीतिक सुधार के लिए) इसलिए उपयुक्त नहीं है, क्योंकि हमारी विधवाएं अविवाहित रह जाती हैं और हमारी लड़कियां अन्य देशों की तुलना में बहुत पहले ही विवाह-सूत्र में बांध दी जाती है। क्योंकि पत्नी और पुत्रियां हमारे मित्रों से मिलने जाने के लिए हमारे साथ कारों में नहीं चलती? क्योंकि हम अपनी पुत्रियों को ऑक्सफोर्ड और केम्ब्रिज नहीं भेजते?" (तालियां)

मैंने जैसा कि माननीय बनर्जी ने प्रस्तुत किया था राजनीतिक सुधार का मामला आपके सामने रखा है। अनेक लोग ऐसे थे, जो यह जानकर प्रसन्न थे कि कांग्रेस की जीत हुई। किंतु जो लोग समाज सुधार के महत्व में विश्वास रखते हैं वे पूछ सकते हैं कि क्या माननीय बनर्जी की दलील अंतिम है? क्या इससे यह सिद्ध होता है कि जीत उन्हीं की हुई जो न्याय-संगत थे? क्या निष्कर्ष रूप में इससे यह सिद्ध होता है कि समाज सुधार का राजनीतिक सुधार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता? यदि मैं मामले के दूसरे पहलू पर विचार

करूं तो इससे मामले को समझने में सहायता मिलेगी। मैं अपने तथ्यों के लिए अछूतों के साथ व्यवहार का उल्लेख करूंगा। **मराठा राज्य में पेशवाओं के शासन में यदि कोई हिन्दू सड़क पर आ रहा होता था तो किसी अछूत को इसलिए उस सड़क पर चलने की अनुमति नहीं थी कि उसकी परछाई से वह हिन्दू अपवित्र हो जाएगा। अछूतों के लिए यह आवश्यक था कि वह अपनी कलाई या गर्दन में निशानी के तौर पर एक काला धागा बांधे, जिससे कि हिन्दू गलती से उससे छूकर अपवित्र हो जाने से बच जाए। पेशवाओं की राजधानी पूना में किसी भी अछूत के लिए अपनी कमर में झाड़ू बांधकर चलना आवश्यक था, जिससे कि उसके चलने से पीछे की धूल साफ होती रहे और ऐसा न हो कि कहीं उस रास्ते से चलने वाला कोई हिन्दू उससे अपवित्र हो जाए। पूना में अछूतों के लिए यह आवश्यक था कि जहां कहीं भी वे जाएं अपने थूकने के लिए मिट्टी का एक बर्तन अपनी गर्दन में लटका कर चलें, क्योंकि ऐसा न हो कि कहीं जमीन पर पड़ने वाले उसके थूक से अनजाने में वहां से गुजरने वाला कोई हिन्दू अपवित्र हो जाए।** मैं हाल ही के कुछ और तथ्यों का भी यहां उल्लेख करना चाहता हूं। मध्य भारत की बलाई नाम की एक अछूत जाति पर हिन्दुओं द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों का जिक्र करना काफी होगा। चार जनवरी 1928 के 'टाइम्स ऑफ इंडिया' की एक रिपोर्ट आप देखें। 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के संवाददाता ने समाचार दिया है कि कनाड़िया, बिचोली-मर्दाना गांवों तथा **इंदौर जिले (इंदौर रियासत के)** के 15 अन्य गांवों की ऊंची जाति के हिन्दुओं ने, अर्थात कालोटो, राजपूतों और ब्राह्मणों, जिनमें पटेल और पटवारी भी शामिल हैं, अपने-अपने गांवों के बलाइयों को सूचित किया है कि यदि वे उनमें रहना चाहते हैं तो उन्हें निम्न नियमों का अवश्य पालन करना होगा:

(क) बलाई, सुनहरी गोटेदार किनारी की पगड़ियां नहीं बांधेंगे।

(ख) वे रंगीन या फैन्सी किनारी की धोतियां नहीं पहनेंगे।

(ग) वे किसी हिन्दू की मृत्यु पर मृतक के संबंधियों को चाहे वे कितनी भी दूर क्यों न रहते हों, मरने की सूचना देंगे।

(घ) सभी हिन्दुओं के विवाहों में बलाई लोग बारात के आगे और विवाह के दौरान बाजा बजाएंगे।

(च) बलाई स्त्रियां सोने या चांदी के आभूषण नहीं पहनेंगी। वे फैंसी गाऊन या जाकेट भी नहीं पहनेंगी।

(छ) बलाई स्त्रियों को हिन्दू स्त्रियों के प्रसव के सभी मामलों में देखभाल करनी होगी।

(ज) बलाई लोगों को बिना काई परिश्रमिक मांगे सेवा करनी होगी और हिन्दू उन्हें जो खुश होकर देंगे, लेना होगा।

(त) अगर बलाई लोग इन शर्तों का पालन करना स्वीकार नहीं करते हैं तो उन्हें गांव छोड़ना होगा।

बलाई लोगों ने उन्हें मानने से इन्कार कर दिया और हिन्दुओं ने उनके विरूद्ध कार्रवाई की। बलाईयों को गांवों के कुओं से पानी नहीं भरने दिया गया। उन्हें अपने पशुओं को चराने के लिए नहीं ले जाने दिया गया। बलाई लोगों को हिन्दुओं की भूमि से गुजरने की मनाही कर दी, ताकि यदि किसी बलाई का खेत हिन्दुओं के खेतों से घिरा हो तो बलाई अपने ही खेत तक न पहुंच सकें। हिन्दुओं ने अपने पशुओं को भी बलाइयों के खेतों में चरने के लिए छोड़ दिया। बलाईयों ने इन अत्याचारों के विरूद्ध दरबार में याचिकाएं दायर की किंतु उन्हें समय पर कोई राहत नहीं मिली और अत्याचार जारी रहा तो सैकड़ों बलाई लोग अपने बाल–बच्चों सहित अपने घरों को जहां पीढ़ियों से रहते आ रहे थे, छोड़कर समीपवर्ती रियासतों, अर्थात धार, देवास, बागली, भोपाल, ग्वालियर तथा अन्य रियासतों के गांवों में जाकर बसने के लिए मजबूर हो गए। अपने नए घरों में उनकी क्या स्थिति रही, उस पर फिलहाल हम विचार नहीं करेंगे।

गुजरात में कविठा की घटना तो पिछले ही वर्ष घटी है। कविठा में हिन्दुओं ने अछूतों को आदेश दिया कि वे अपने बच्चों को सरकार द्वारा चलाए जा रहे गांव के आम स्कूल में न भेंजे। हिन्दुओं की इच्छाओं के विरूद्ध नागरिक अधिकार का प्रयोग करने का साहस करने के लिए कविठा के अछूतों को कितने कष्टों का सामना करना पड़ा सभी जानते हैं, इसे विस्तार से बताने की आवश्यकता नहीं है। एक अन्य घटना गुजरात में अहमदाबाद जिले के जानू गांव में हुई। नवम्बर 1935 में संपन्न परिवारों की कुछ अछूत महिलाओं ने धातु के बर्तनों में पानी लाना आरंभ कर दिया। **हिन्दुओं ने अछूतों द्वारा धातु के बर्तनों के प्रयोग को अपने सम्मान के विरूद्ध समझा और अछूत महिलाओं पर इस गुस्ताखी के लिए हमला किया।** एक बहुत ही नई घटना की सूचना जयपुर रियासत में चकवारा से मिली है। समाचार पत्रों में छपी सूचना से पता चलता है कि चकवारा में गांव के एक अछूत ने तीर्थ यात्रा से लौटने के बाद धार्मिक पुण्य के बतौर गांव के अपने अछूत भाइयों को भोज देने की व्यवस्था की थी। मेजवान की इच्छा थी कि मेहमानों को बहुमूल्य भोजन खिलाया जाए और उसमें घी से युक्त व्यंजन भी परोसे जाएं। किंतु जिस

समय अछूत लोग भोजन कर रहे थे तो सैकड़ों की संख्या में हिंदू लाठियां लेकर वहां दौड़े और भोजन को खराब कर दिया तथा अछूतों को बुरी तरह पीटा। परोसे गए भोजन को छोड़, मेहमान अपनी जान बचाने के लिए भाग गए। **निःसहाय अछूतों पर ऐसा प्राणघातक आक्रमण क्यों किया गया? इसका जो कारण बताया गया है, वह यह था की अछूत मेजवान इतना धृष्ट था कि उसने घी का प्रयोग किया और उसके अछूत मेहमान इतने मूर्ख थे कि वे उसे खा रहे थे।** घी निःसंदेह अमीरों के लिए एक विलास की वस्तु है। किंतु कोई भी यह नहीं सोचेगा कि घी ऊंचे सामाजिक स्तर का प्रतीक है। चकवारा के हिन्दुओं ने इसका दूसरा अर्थ लिया और उन अछूतों द्वारा उनके साथ की गई गलती के लिए हिन्दुओं के धार्मिक क्रोध में उनसे बदला लिया, जिन्होंने अपने भोजन में घी परोसकर उनका अपमान किया था। उन्हें यह जानना चाहिए था कि वे हिन्दुओं के सम्मान की बराबरी नहीं कर सकते। इसका यह अर्थ है कि किसी अछूत को घी का प्रयोग नहीं करना चाहिए। ऐसा करना हिन्दुओं के प्रति उदण्डता है। यह घटना पहली अप्रैल 1936 या उसके आसपास की है।

इन तथ्यों को बताने के बाद अब मैं सामाजिक सुधार के बारे में बात करूंगा। ऐसा करने में मैं जहां तक हो सकता है, माननीय बनर्जी का अनुसरण करुंगा और मैं राजनीतिक प्रवृत्ति के हिन्दुओं से पूछता हूं, जब आप अपने ही देश के अछूतों जैसे एक बहुत बड़े वर्ग को सार्वजनिक स्कूल का प्रयोग नहीं करने देते तो क्या आप राजनीतिक सत्ता के योग्य हैं? जब आप उन्हें सार्वजनिक कुओं का प्रयोग नहीं करने देते तो क्या आप राजनीतिक सत्ता के योग्य हैं? जब आप उन्हें अपनी पसंद के आभूषण ओर वेशभूषा धारण नहीं करने देते तो क्या आप राजनीतिक सत्ता के योग्य है? जब आप उन्हें उनकी पसंद का भोजन नहीं करने देते तो क्या आप राजनीतिक सत्ता के योग्य हैं? मैं इस प्रकार के अनेक प्रश्न पूछ सकता हूं, किंतु ये ही प्रश्न काफी होंगे। मैं अधीर हूं यह जानने के लिए कि माननीय बनर्जी क्या उत्तर देते। मुझे यकीन है कि कोई भी समझदार व्यक्ति इसका हां में उत्तर देने का साहस नहीं करेगा। प्रत्येक कांग्रेसी को जो मिल (Mill) का बराबरी का यह सिद्धांत बराबर दोहराता है कि एक देश को दूसरे पर राज करने का अधिकार नहीं है, उन्हें यह भी स्वीकार करनी चाहिए कि एक वर्ग दूसरे वर्ग पर शासन करने के योग्य नहीं है।

तब यह कैसे हुआ कि सामाजिक सुधार दल लड़ाई हार गया। इसे सही–सही रूप में समझने के लिए इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि **समाज सुधारक किस प्रकार के समाज सुधार के लिए आंदोलन कर रहे हैं। इस संबंध में यह आवश्यक है कि हिंदू परिवार के सुधार के अर्थ में समाज सुधार और हिंदू समाज के पुनर्गठन**

तथा पुनर्निर्माण के अर्थ में समाज सुधार, इन दोनों में अंतर किया जाए। पहले प्रकार के समाज सुधार का संबंध विधवा विवाह, बाल विवाह निषेध आदि से हैं, जबकि दूसरे प्रकार के समाज सुधार का संबंध जातिप्रथा के उन्मूलन से है। सामाजिक सम्मेलन एक ऐसी संस्था थी, जिसका संबंध मुख्य रूप से ऊंची जाति के ज्ञानप्राप्त हिन्दुओं से था जो जाति के उन्मूलन के लिए आंदोलन करना आवश्यक नहीं समझते थे, या उनमें इसके लिए आंदोलन करने का साहस नहीं था। उन्होंने जबरन विधवापन, बाल विवाह जैसी बुराईयों को जो उनमें फैली हुई थी और जिन्हें वे खुद महसूस करते थे, दूर करने की भारी आवश्यकता को महसूस किया। वे हिन्दू समाज में सुधार करने के लिए खड़े नहीं हुए थे। वह जो लड़ाई लड़ रहे थे, वह परिवार के सुधार के प्रश्न पर ही केन्द्रित थी। इसका संबंध जातिप्रथा को तोड़ने के अर्थ में समाज सुधार नहीं था। समाज सुधारकों ने इस मुद्दे को कभी नहीं उठाया। यही कारण है कि सामाजिक सुधार दल समाप्त हो गया।

मैं जानता हूं कि यह दलील इस तथ्य को नहीं बदल सकती कि राजनीतिक सुधार को वास्तव में सामाजिक सुधार से वरीयता मिली। किंतु तर्क का अगर अधिक नहीं तो इतना मूल्य तो है ही। इससे स्पष्ट होता है कि समाज सुधारक क्यों सफल नहीं हुए। इससे हमें यह भी समझाने में सहायता मिलती है कि राजनीतिक सुधार दल ने सामाजिक सुधार के राजनीतिक सुधार से पहले होने की आवश्यकता नहीं है, ऐसा विचार केवल तभी उत्पन्न होता है जबकि समाज सुधार का अर्थ परिवार का सुधार हो। यह तथ्य कि राजनीतिक सुधार समाज के पुनर्गठन के अर्थ में सामाजिक सुधार के ऊपर वरीयता प्राप्त नहीं कर सकता, एक ऐसा शोध-प्रबंध है जिस पर मैं समझता हूं मतभेद नहीं हो सकता। राजनीतिक संविधानों के निर्माताओं को सामाजिक शक्तियों को ध्यान में रखना चाहिए। इस तथ्य को फर्डिनेंड लेजले जैसे महान व्यक्ति ने स्वीकार किया है जो कार्ल मार्क्स का मित्र और सहकर्मी था। 1862 में प्रशिया की एक सभा में लेजले ने कहा था:

"संवैधानिक प्रश्न सर्वप्रथम अधिकार के प्रश्न नहीं, बल्कि शक्ति के प्रश्न होते हैं। किसी देश के वास्तविक संविधान का अस्तित्व उस देश में विद्यमान शक्ति की वास्तविक स्थिति में ही होता है। अत: राजनीतिक संविधानों का मूल्य और स्थायित्व केवल तभी होता है जब कि वे शक्ति की उन शर्तों को सही-सही ढंग से प्रकट करते हैं जो किसी समाज में विद्यमान होती हैं।"

किंतु प्रशिया जाने की जरूरत नहीं है। घर में ही उसके प्रमाण हैं। उस सांप्रदायिक अधिनिर्णय का क्या महत्व है, जिसमें विविध जातियों और समुदायों के परिभाषित अनुपातों में राजनीतिक सत्ता का आवंटन हो? मेरे विचार से इसका महत्व इस

बात में है कि राजनीतिक संविधान को सामाजिक संगठन को ध्यान में रखना चाहिए। इससे प्रकट होता है कि ऐसे राजनीतिज्ञ जिन्होंने यह नहीं माना कि भारत की सामाजिक समस्या का राजनीतिक समस्या पर भी कोई प्रभाव है। वे भी संविधान तैयार करने में सामाजिक समस्या को मानने के लिए बाध्य हुए। कहने का तात्पर्य यह है कि सांप्रदायिक अधिनिर्णय सामाजिक सुधार की उपेक्षा से उत्पन्न प्रतिशोध है। यह सामाजिक सुधार दल के लिए विजय है जो यह दिखाता है कि चाहे वे हार गए, किंतु उनका सामाजिक सुधार के महत्व पर बल देना ठीक था। मैं जानता हूं कि बहुत से लोग इस तथ्य को स्वीकार नहीं करेंगे। इस प्रकार का विचार अभी मौजूद है और इस बात पर विश्वास करना अच्छा लगता है कि सांप्रदायिक अधिनिर्णय अस्वाभाविक है और यह नौकरशाही तथा अल्पसंख्यकों के बीच अपवित्र गठबंधन का परिणाम है। अगर यह कहा जाए कि सांप्रदायिक अधिनिर्णय एक अच्छा साक्ष्य नहीं है तो मैं अपने मत के समर्थन में इस पर एक साक्ष्य के रूप में भरोसा नहीं करना चाहता। आयरलैंड को लीजिए, आयरिश होम रूल का इतिहास क्या बताता है? सब जानते हैं कि अल्स्टर और दक्षिणी आयरलैंड के प्रतिनिधियों के बीच बातचीत के दौरान दक्षिणी आयरलैंड के प्रतिनिधि माननीय रेडमंड ने अल्स्टर को समस्त आयरलैंड के लिए समान होम रूल संविधान के अंतर्गत लाने के लिए अल्स्टर के प्रतिनिधियों से कहा था, आप जिस राजनीतिक सुरक्षा को पसंद करते है, उसकी मांग करें, आपको वह मिलेगी। पता है, अल्स्टर के लोगों ने क्या जवाब दिया? उनका उत्तर था, "धिक्कार है, आपके सुरक्षा उपायों को हम किसी भी शर्त पर अपने ऊपर आपका शासन नहीं चाहते।" जो लोग भारत में अल्पसंख्यकों पर दोषारोपण करते हैं, उन्हें इस बात पर विचार करना चाहिए कि यदि अल्पसंख्यक वह रवैया अपना लेते, जो अल्स्टर ने अपनाया था तो बहुसंख्यकों की राजनीतिक आकांक्षाओं का क्या होता? **आयरिश होम रूल के प्रति अल्स्टर के रवैए को देखते हुए क्या यह कुछ भी नहीं कि अल्पसंख्यक उस बहुसंख्यक के शासन में रहने को सहमत हो गए जिसने राजनीतिज्ञता की कोई अधिक भावना नहीं दिखाई और क्यों उनके लिए कुछ सुरक्षात्मक उपायों की व्यवस्था की?** किंतु यह केवल आकस्मिक है। मुख्य प्रश्न यह है कि अल्स्टर ने ऐसा रवैया क्यों अपनाया? मैं उसका केवल एक उत्तर दे सकता हूं कि अल्स्टर और दक्षिणी आयरलैंड के बीच एक सामाजिक समस्या थी। कैथोलिको और प्रोटेस्टेंटों के बीच एक समस्या निश्चय ही जाति की समस्या थी। आयरलैंड में होम रूल एक प्रकार से रोम का शासन रूल होगा। अल्स्टरवासियों ने इसी रूप में अपना उत्तर तैयार किया था। किंतु इस बात को बताने का यही एक अन्य तरीका है कि कैथोलिकों और प्रोटेस्टेंटों के बीच जाति की सामाजिक समस्या थी, जिसने वहां राजनीतिक समस्या का हल नहीं होने दिया। इस

साक्ष्य को फिर से चुनौती दिया जाना निश्चित है। यहां भी साम्राज्यवादी हाथ काम कर रहा था। किंतु मेरे साक्ष्य समाप्त नहीं हुए हैं। मैं रोम के इतिहास से साक्ष्य दूंगा। यहां कोई भी यह नहीं कह सकता कि कोई दुष्ट आत्मा काम कर रही थी। जिस किसी ने भी रोम के इतिहास का अध्ययन किया है, उसे पता होगा कि रोम के गणतंत्रवादी संविधान में सांप्रदायिक अधिनिर्णय से बहुत अधिक मिलते-जुलते तत्व थे। जब रोम में राजशाही उन्मूलन हुआ तो राजसी सत्ता या परसत्ता (इम्पीरियम) कांसुलों और पोंटिफेक्स मेक्सिमस के बीच विभक्त हो गई थी। कांसुलों में राजा का धर्मनिरपेक्ष प्राधिकार निहित था। जबकि पोंटिफेक्स मेक्सिमस ने राजा का धार्मिक प्राधिकार ग्रहण किया था। इस गणतंत्रवादी संविधान ने दो कांसुलों का प्रावधान किया था। एक था पेट्रिशियन और दूसरा था प्लेबियन। उसी संविधान में पोंटिफेक्स मेक्सिमस के अधीन पादरियों की भी व्यवस्था थी, जिनमें से आधे प्लेबियन और आधे पेट्रिशियन होते थे। इसका क्या कारण है कि रोम के गणतंत्रवादी संविधान में यह प्रावधान थे जो कि जैसा कि मैंने बताया था सांप्रदायिक अधिनिर्णय के प्रावधानों से इतने अधिक मिलते हैं? इसका एक ही उत्तर मिल सकता है कि रोम गणतंत्र के संविधान को पेट्रिशियनों तथा प्लेबियनों के बीच सामाजिक विभाजन को ध्यान में रखना पड़ा था। पेट्रिशियन और प्लेबियन, ये दो स्पष्ट जातियां थी। सार रूप में हम कह सकते है कि राजनीतिक सुधारकों को जिस दिशा में वे जाना चाहें, जाने दें। इससे उन्हें पता चलेगा कि संविधान तैयार करने में वे प्रचलित सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न समस्या की उपेक्षा नहीं कर सकते।

इस प्रस्ताव के समर्थन में कि सामाजिक और धार्मिक समस्याओं का राजनीतिक संविधानों पर प्रभाव पड़ता है, मैंने जिन उदाहरणों को प्रस्तुत किया है, वे अधिक विस्तृत प्रतीत होते हैं। मैं समझता हूं कि ऐसा ही हैं किंतु यह नहीं मानना चाहिए एक का दूसरे पर पड़ने वाला प्रभाव सीमित होता है। दूसरी ओर यह कहा जा सकता है कि इतिहास सामान्यत: इस प्रस्ताव को बल देता है कि **राजनीतिक क्रांतियां हमेशा सामाजिक और धार्मिक क्रांतियों के बाद हुई है।** लूथर द्वारा आरंभ किया गया धार्मिक सुधार यूरोप के लोगों की राजनीतिक मुक्ति का अग्रदूत था। इंग्लैंड में प्यूरिटनवाद के कारण राजनीतिक स्वतंत्रता की स्थापना हुई। प्यूरिटनवाद ने नए विश्व की स्थापना की।

प्यूरिटनवाद ने ही अमरीकी स्वतंत्रता संग्राम को जीता। प्यूरिटनवाद एक धार्मिक आंदोलन था। यही बात मुस्लिम साम्राज्य के संबंध में भी सत्य है। अरबों के राजनीतिकि सत्ता बनने से पहले वे पैगम्बर मुहम्मद साहब द्वारा आरंभ संपूर्ण धार्मिक क्रांति से गुजरे थे। यहां तक कि भारतीय इतिहास भी उसी निष्कर्ष का समर्थन करता है। चन्द्रगुप्त द्वारा संचालित राजनीतिक क्रांति से पहले बुद्ध की धार्मिक और सामाजिक क्रांति हुई थी।

शिवाजी के नेतृत्व में राजनीतिक क्रांति भी महाराष्ट्र के द्वारा किए गए धार्मिक और सामाजिक सुधारों के बाद हुई थी। सिखों की राजनीतिक क्रांति से पहले गुरूनानक द्वारा की गई धार्मिक और सामाजिक क्रांति हुई थी, यहां और अधिक दृष्टांत देना अनावश्यक है। इन दृष्टांतों से यह बात प्रकट हो जाएगी कि **मस्तिष्क और मन की मुक्ति जनता के राजनीतिक विस्तार के लिए पहली आवश्यकता है।**

(3)

अब मैं समाजवादियों की ओर आता हूं। क्या समाजवादी लोग सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न समस्या की उपेक्षा कर सकते हैं? भारत के समाजवादी यूरोप में अपने साथियों का अनुसरण करते हुए इतिहास की आर्थिक व्याख्या को भारत के तथ्यों पर लागू करना चाहते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य एक आर्थिक प्राणी है। उसके कार्यकलाप और आकांक्षाएं आर्थिक तथ्यों से परिबद्ध हैं और संपत्ति सत्ता का एक मात्र स्रोत है। इसलिए वे इस बात का प्रचार करते हैं कि राजनैतिक और सामाजिक सुधार केवल भारी भ्रम है और संपत्ति के समानीकरण द्वारा आर्थिक सुधारों को अन्य हर प्रकार के सुधारों से वरीयता दी जानी चाहिए। ऐसे विषयों में से प्रत्येक विषय पर कोई भी चर्चा कर सकता है कि समाजवादियों का यह सिद्धांत आर्थिक सुधार पर आधारित है और इसे प्रत्येक प्रकार के सुधार पर वरीयता दी जानी चाहिए। किसी की भी यह धारणा हो सकती है कि आर्थिक प्रेरणा ही मात्र ऐसी प्रेरणा नहीं है। जिससे व्यक्ति प्रेरित होता है। मानव समाज का कोई भी विद्यार्थी इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता कि आर्थिक शक्ति ही एकमात्र शक्ति है। किसी व्यक्ति का सामाजिक स्तर ही अक्सर शक्ति का स्रोत बन जाता है और उसके प्रभाव से उसका प्राधिकार प्रदर्शित होता है जैसा कि महात्माओं का सामान्य व्यक्तियों के ऊपर प्रभाव रहा है। भारत में लखपति लोग अकिंचन साधुओं और फकीरों की आज्ञा क्यों मानते हैं? भारत में लाखों दरिद्र अपनी मामूली चीजों को भी जो उनकी एकमात्र संपत्ति होती है बेचकर बनारस आरै मक्का क्यों जाते हैं? **भारत के इतिहास में इस बात का चित्रण है कि धर्म सत्ता का स्रोत है,** जहां पुजारी को सामान्य व्यक्ति से अधिक महत्व प्राप्त है और कभी–कभी तो यह प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट से भी अधिक होता है। भारत में हर चीज यहां तक कि हड़ताल और चुनाव पर भी आसानी से धर्म का प्रभाव पड़ता है और वह ऐसी घटनाओं को धार्मिक मोड़ दे देता है। व्यक्ति के ऊपर धर्म की शक्ति का एक और उदाहरण देने के लिए हम रोम के प्लेबियन का संदर्भ लेते हैं। यह सन्दर्भ इस मुद्दे पर व्यापक प्रकाश डालता है। प्लेबियन लोगों ने रोमन गणराज्य के अधीन सर्वोच्च कार्यकारी सत्ता में भगीदार के लिए लड़ाई लड़ी थी और उन्होंने प्लेबियनों की असेम्बली कमेटियों सेंचूरियाटा द्वारा गठित पृथक निर्वाचन मंडल द्वारा

निर्वाचित एक प्लेबियन वाणिज्य दूत की नियुक्ति कराने में सफलता प्राप्त की थी। वे अपना ही एक कांसुल (वाणिज्य दूत) चाहते थे, क्योंकि वे महसूस करते थे कि पेट्रिशियन वाणिज्य दूत प्रशासन के मामले में प्लेबियनों के साथ भेदभाव करते हैं। उन्होंने स्पष्टत: एक बड़ा लाभ प्राप्त किया था क्योंकि रोम के गणराज्यीय संविधान के अधीन एक वाणिज्य दूत (कांसुल) को दूसरे वाणिज्य दूत के कार्य को वीटो करने की शक्ति प्राप्त थी। किंतु क्या वास्तव में उन्हें कोई लाभ हुआ? उत्तर है, नहीं?

प्लेबियनों को ऐसा कोई भी प्लेबियन वाणिज्य दूत नहीं मिल सका जिसे शक्तिशाली व्यक्ति कहा जा सके और जो पेट्रिशियन वाणिज्य दूत से स्वतंत्र काम कर सके। साधारणतया इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि प्लेबियनों को एक शक्तिशाली प्लेबियन वाणिज्य दूत मिल सकता था, यदि उसका चुनाव पृथक प्लेबियन निर्वाचन मंडल द्वारा किया जाता। प्रश्न यह है कि वे अपना एक मजबूत प्लेबियन वाणिज्य दूत क्यों प्राप्त नहीं कर सके? इस प्रश्न के उत्तर से पता लगा है कि लोगों के दिमाग पर धर्म का कितना प्रभाव पड़ता है। सारी रोम की जनता में यह एक मान्य प्रथा थी कि कोई भी अधिकारी तब तक अपने कार्यालय की ड्यूटी नहीं संभाल सकता, जब तक कि डेल्फी का ओरेकल यह घोषित न कर दे कि वह देवी को स्वीकार्य है। डेल्फी की देवी के मंदिर के प्रभारी पुजारी सभी पेट्रिशियन थे। इसलिए जब कभी प्लेबियन किसी ऐसे वाणिज्य दूत को चुनते जो पेट्रिशियनों के विरोधी दल का माना जाता था, ऐसी स्थिति में ओरेकल सदा ही यह घोषणा कर देता था कि वह देवी को स्वीकार्य नहीं है। इस प्रकार प्लेबियन को अपने अधिकारों के लिए धोखा दिया जाता था, लेकिन उल्लेखनीय बात यह है कि प्लेबियनों ने स्वयं को इस प्रकार धोखा खाने दिया, क्योंकि पेट्रिशियनों की भांति उनका भी दृढ़ विश्वास था कि किसी अधिकारी द्वारा अपने कर्तव्य का भार ग्रहण करने के लिए देवी का अनुमोदन पहली शर्त है और जनता द्वारा निर्वाचन ही काफी नहीं है। यदि प्लेबियन इस बात का दावा करते कि निर्वाचन ही पर्याप्त है और देवी का अनुमोदन आवश्यक नहीं है तो वे उस राजनीतिक अधिकार का पूरा लाभ उठा सकते थे जो उन्हें प्राप्त थे, किंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे एक ऐसा अन्य व्यक्ति चुनने पर सहमत हो गए जो उनके लिए कम उपयुक्त था, किंतु देवी के लिए अधिक उपयुक्त था, अर्थात पेट्रिशियनों के लिए अधिक अनुकूल था। धर्म त्यागने की अपेक्षा प्लेबियनों ने उस भौतिक लाभ को त्याग दिया, जिसके लिए उन्होंने इतना कड़ा संघर्ष किया था। क्या इससे यह प्रकट नहीं होता कि धर्म यदि धन से अधिक नहीं तो उसके बराबर शक्ति का स्रोत हो सकता है? भारत के समाजवादियों का भ्रम इस कल्पना से निहित है कि चूंकि आज यूरोपीय समाज में संपत्ति सत्ता के स्रोत के रूप में अभिभावी है, इसलिए यही बात भारत

के संबंध में भी सही है और यही बात भूतकाल में यूरोप के संबंध में भी सत्य थी।

धर्म, सामाजिक प्रतिष्ठा और संपत्ति ये सभी सत्ता और प्राधिकार के स्रोत हैं जो एक आदमी के पास दूसरे की आजादी पर नियंत्रण करने के लिए होते हैं। एक स्थिति में एक बात अभिभावी होती है तो दूसरी स्थिति में अन्य बात अभिभावी होती है। यही एकमात्र अंतर है। यदि स्वतंत्रता आदर्श है, यदि स्वतंत्रता का अर्थ इस प्रभुत्व का विनाश है जो किसी एक व्यक्ति को किसी दूसरे के ऊपर प्राप्त है तो स्पष्ट है कि इस बात पर बल नहीं दिया जा सकता कि आर्थिक सुधार ही एक प्रकार का सुधार है जिसे हासिल किया जाना चाहिए। यदि शक्ति और प्रभुत्व का स्रोत किसी विशेष समय अथवा किसी विशेष सामाजिक तथा धार्मिक समाज में मौजूद है तो सामाजिक सुधार और धार्मिक सुधार को आवश्यक सुधार के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

इस प्रकार कोई भी व्यक्ति भारत के समाजवादियों द्वारा अपनाई गई इतिहास की आर्थिक व्याख्या के सिद्धांत पर प्रहार कर सकता है। किंतु मैं इस बात को स्वीकार करता हूं कि इतिहास की आर्थिक व्याख्या इस समाजवादी दावे की वैधता के लिए आवश्यक नहीं है कि संपत्ति का समानीकरण ही एकमात्र वास्तविक सुधार है और इसे अन्य सभी बातों से वरीयता दी जानी चाहिए। फिर भी मैं समाजवादियों से पूछना चाहता हूं कि **क्या आप पहले सामाजिक व्यवस्था में सुधार लाए बिना आर्थिक सुधार कर सकते हैं?** ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के समाजवादियों ने इस प्रश्न पर विचार नहीं किया है। मैं उनके साथ अन्याय नहीं करना चाहता। मैं एक पत्र का उद्धरण देता हूं। जो एक प्रमुख समाजवादी ने मेरे एक मित्र को कुछ दिन पहले लिखा था। इसमें उसने कहा था–

"मैं इस बात पर विश्वास नहीं करता कि जब तक एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का दमन और इस प्रकार का दुर्व्यवहार रहेगा, तब तक हम भारत में एक मुक्त समाज का निर्माण कर सकेंगे।" जैसा कि मैं एक समाजवादी आदर्श में विश्वास करता हूं। तो मैं अवश्य ही विभिन्न वर्गों और समूहों के बीच संपूर्ण समानता के व्यवहार में विश्वास करता हूं। मैं समझता हूं कि समाजवाद इसका तथा अन्य समस्याओं का एकमात्र सही समाधान है। अब मैं यह प्रश्न पूछता हूं कि क्या किसी समाजवादी के लिए यह कहना काफी है कि मैं विभिन्न वर्गों के साथ व्यवहार में पूर्ण समानता में विश्वास करता हूं। यह कहना कि ऐसा विश्वास पर्याप्त है। समाजवाद में जो कुछ निहित है उसके संबंध में कोई जानकारी नहीं है तो किसी समाजवादी के लिए यह प्रश्न नहीं है कि क्या आप समानता में विश्वास करते हो? उसके लिए प्रश्न यह है कि क्या वह इस बात को नापसंद करता है कि एक वर्ग एक व्यवस्था या एक सिद्धांत के रूप में दूसरे के साथ दुर्व्यवहार करता रहे और उसका दमन करता रहे और इस तरह अत्याचार और दमन को चलते रहते

देखता रहे और इस प्रकार एक वर्ग दूसरे से अलग हो जाए। अब मैं अपनी बात को पूरी तरह स्पष्ट करने लिए उन कारणों का विश्लेषण करूंगा जो समाजवाद की प्राप्ति में निहित हैं। अब यह स्पष्ट है कि समाजवादियों द्वारा अपेक्षित आर्थिक सुधार तब तक नहीं हो सकते, जब तक कि सत्ता को हथियाने के लिए क्रांति नहीं होती। सत्ता को सर्वहारा वर्ग द्वारा हथियाना चाहिए। मेरा पहला प्रश्न कि क्या भारत का सर्वहारा वर्ग यह क्रांति लाने के लिए संगठित हो जाएगा? ऐसे कार्य के लिए व्यक्तियों को कौन प्रेरित करेगा? मुझे लगता है कि अन्य बातें समान रहने पर केवल एक बात जो किसी व्यक्ति को इस बात की कार्यवाही करने के लिए प्रेरित करेगी वह यह भावना है कि दूसरा आदमी जिसके साथ वह काम कर रहा है, वह समानता, भाईचारा और उनसे भी बढ़कर न्याय की भावना से प्रेरित है। लोग जब तक यह नहीं जानेंगे कि क्रांति के बाद उनके साथ समानता का व्यवहार होगा और जाति और नस्ल का कोई भेदभाव नहीं होगा, तब तक वे संपत्ति के समानीकरण के लिए क्रांति में शामिल नहीं होंगे। क्रांति का नेतृत्व करने वाले किसी समाजवादी का यह आश्वासन है कि मैं जातिप्रथा में विश्वास नहीं करता, मेरे विचार में काफी नहीं है। आश्वासन ऐसा होना चाहिए जिसकी गहरी बुनियाद हो अर्थात एक देशवासी का मानसिक व्यवहार दूसरे के प्रति व्यक्तिगत समानता और भाईचारे की भावना से भरा हो। क्या यह कहा जा सकता है कि भारत का सर्वहारा वर्ग गरीब होने के नाते गरीब होते हुए भी गरीब और अमीर के अंतर के अलावा कोई दूसरा अंतर नहीं मानता? क्या यह कहा जा सकता है कि भारत के गरीब लोग जातियों, नस्ल, ऊंच या नीच के ऐसे भेदों को नहीं मानते? यदि सच्चाई यह है कि वे मानते है तो इस प्रकार के सर्वहारा से अमीरों के विरूद्ध कार्यवाही करने में किस एकता की अपेक्षा की जा सकती है? यदि सर्वहारा वर्ग संगठित रूप में मोर्चा नहीं लगाता तो क्रांति कैसे हो सकती है?

तर्क के लिए मान लिया जाए कि सौभाग्य से क्रांति हो जाती है और समाजवादी सत्ता में आ जाते हैं, तो क्या उन्हें उन समस्याओं से नहीं निपटना होगा जो भारत में प्रचलित विशेष सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न हुई हैं? मैं नहीं समझता कि उन पक्षपातों द्वारा उत्पन्न समस्याओं का सामना किए बिना जो भारतीय लोगों में ऊंच-नीच, स्वच्छ-अस्वच्छ के भेदभाव पैदा करती है। भारत में कोई समाजवादी राज्य एक सैकंड भी कैसे कार्य कर सकता है। यदि समाजवादी अच्छी सूक्तियां बोलने से ही संतुष्ट नहीं है और यदि समाजवादी समाजवाद को एक निश्चित वास्तविकता में बदलने के इच्छुक हैं तो उन्हें स्वीकार करना होगा कि सामाजिक सुधार की समस्या मूलभूत समस्या है और वे इससे बचकर नहीं भाग सकते। भारत में फैली सामाजिक व्यवस्था एक ऐसा मामला है जिससे समाजवादी को निपटना होगा। जब तक वह ऐसा नहीं करेगा तब तक वह अपनी क्रांति

नहीं ला सकता और यदि सौभाग्य से वह क्रांति लाता भी है तो उसे अपने आदर्श को प्राप्त करने के लिए इस समस्या से जूझना होगा। मेरे विचार से यह एक ऐसा तथ्य है जो निर्विवाद है। यदि वह क्रांति से पहले जाति की समस्या पर ध्यान नहीं देता है तो उसे क्रांति के बाद उस पर ध्यान देना पड़ेगा। इसे हम दूसरी प्रकार यूं कह सकते है कि **चाहे आप किसी भी दिशा में देखें जाति एक ऐसा दैत्य है जो आपके मार्ग में खड़ा है। आप जब तक इस दैत्य को नहीं मारेंगे तब तक आप न कोई राजनीतिक सुधार कर सकते हैं न कोई आर्थिक सुधार।**

(4)

खेद है कि आज भी जाति के समर्थक मौजूद हैं। इसके समर्थक अनेक हैं। इसका समर्थन इस आधार पर किया जाता है कि जातिप्रथा श्रम के विभाजन का एक अन्य नाम ही है। यदि श्रम का विभाजन प्रत्येक सभ्य समाज का एक अनिवार्य लक्षण है तो यह दलील दी जाती है कि जातिप्रथा में कोई बुराई नहीं है। इस विचार के विरूद्ध पहली बात यह है कि **जातिप्रथा केवल श्रम का विभाजन नहीं है यह श्रमिकों का विभाजन भी है।** इसमें संदेह नहीं है कि सभ्य समाज को श्रम का विभाजन करने की आवश्यकता है किंतु किसी भी सभ्य समाज में श्रम के विभाजन के साथ इस प्रकार के पूर्णतः अलग वर्गों में श्रमिकों का अप्राकृतिक विभाजन नहीं होता।

जातिप्रथा मात्र श्रमिकों का विभाजन नहीं है, बल्कि यह श्रम के विभाजन से बिल्कुल भिन्न है। यह एक श्रेणीबद्ध व्यवस्था है जिसमें श्रमिकों का विभाजन एक के ऊपर दूसरे क्रम में होता है। किसी भी अन्य देश के श्रम के विभाजन के साथ श्रमिकों का इस प्रकार का क्रम नहीं होता। जातिप्रथा के इस विचार के विरूद्ध एक तीसरा तथ्य भी है। श्रम का यह विभाजन स्वतः नहीं होता। यह स्वाभाविक अभिरूचि पर आधारित नहीं है। सामाजिक और वैयक्तिक कार्यकुशलता के लिए आवश्यक है कि किसी व्यक्ति की क्षमता को इस बिंदु तक विकास किया जाए कि वह अपनी आजीविका का चुनाव स्वयं कर सके। जातिप्रथा में इस सिद्धांत का उल्लंघन होता है क्योंकि इसमें व्यक्तियों को पहले से ही कार्य सौंपने का प्रयास किया जाता है, जिसका चुनाव प्रशिक्षित मूल क्षमताओं के आधार पर नहीं किया जाता बल्कि माता-पिता के सामाजिक स्तर पर होता है। एक अन्य दृष्टिकोण से देखा जाए तो व्यवसायों का यह विभाजन जो जातिप्रथा का परिणाम है, निश्चित रूप से घातक है। उद्योग कभी भी स्थिर नहीं होता। इसमें तेजी से और अचानक परिवर्तन होते हैं। ऐसे परिवर्तनों से व्यक्ति को अपना व्यवसाय बदलने की छूट होनी चाहिए। अपने आपको ढालने की ऐसी स्वतंत्रता के बिना उसके लिए बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार अपनी आजीविका कमाना असंभव हो जाएगा। जाति व्यवस्था

हिन्दुओं को ऐसे व्यवसाय अपनाने की अनुमति नहीं देगी, जहां उनकी जरूरत है यदि वे आनुवंशिक रूप से उनसे संबंधित नहीं हैं। यदि कोई हिंदू अपनी जाति के लिए निर्धारित पेशे के अलावा नए पेशे को अपनाने की बजाय भूखा मरता दिखाई देता है तो उसका कारण जातिप्रथा की कठोरता ही है। **पेशों के पुनर्समायोजन की छूट न देने से अधिकतर बेरोजगारी फैलती है जिसका सीधा कारण जातिप्रथा है जो हमारे देश में मौजूद है।**

श्रम विभाजन के रूप में जातिप्रथा में एक और गंभीर दोष है। जातिप्रथा द्वारा उत्पन्न श्रम का विभाजन पसंद पर आधारित श्रम विभाजन नहीं है। इसमें वैयक्तिक भावना और वैयक्तिक वरीयता का कोई स्थान नहीं है। इसका आधार प्रारब्ध (भाग्य) का सिद्धांत है। सामाजिक कार्यकुशलता का विचार हमें इस बात को स्वीकार करने को विवश करता है कि औद्योगिक प्रणाली में सबसे बड़ा दोष केवल निर्धनता नहीं है। इस प्रणाली में जो बड़ा कष्ट है वह यह है बहुत ज्यादा लोग ऐसे व्यवसायों में लगे हैं जिनके प्रति उनकी प्रवृत्ति नहीं है। यदि किसी ऐसे व्यक्ति को व्यवसाय से निरंतर लगा रहना पड़े तो उस व्यक्ति को उससे पीछा छुड़ाने, उसके प्रति सद्‌भावना न होने और उससे बचने की इच्छा होती है। **भारत में अनेक ऐसे व्यवसाय हैं जिन्हें हिंदू निकृष्ट मानते हैं, इसलिए जो लोग उनमें लगे हैं वे उनसे पीछा छुड़ाने को आतुर रहते हैं।** ऐसे व्यवसायों से बचने और उन्हें त्यागने की निरंतर इच्छा बनी रहती है। इसका एकमात्र कारण वह निराशाजनक प्रभाव है जो उन पर हिंदू धर्म द्वारा उनके ऊपर आरोपित कलंक के कारण पड़ता है। ऐसी व्यवस्था में क्या कार्यकुशलता हो सकती है जिसमें न तो लोगों के दिल और न दिमाग अपने काम में होते हैं? इ**सलिए एक आर्थिक संगठन के रूप में जातिप्रथा एक हानिकारक व्यवस्था है, क्योंकि इसमें व्यक्ति की स्वाभाविक शक्तियों का दमन होता रहता है** और सामाजिक नियमों की तत्कालीन आवश्यकताओं की प्रवृत्ति होती है।

(5)

कुछ लोगों ने जातिप्रथा के समर्थन में जैविक दलील दी है। कहा जाता है जाति का उद्‌देश्य प्रजाति की शुद्धता और रक्त की शुद्धता को परिरक्षित रखना है। अब नृजाति वैज्ञानिकों का मत है कि विशुद्ध प्रजाति के लोग कहीं नहीं हैं और संसार के सब भागों में सभी जातियों का मिश्रण है, विशेषकर भारत के लोगों के मामले में तो यही स्थिति है। माननीय डी.आर. भंडारकर ने 'हिन्दू जनसंख्या में विदेशी तत्व' (फारेन एलीमेंटस इन द हिन्दू पाप्युलेशन) विषय पर अपने प्रलेख में कहा है कि "भारत में शायद ही कोई ऐसा वर्ग या जाति होगी जिसमें विदेशी अंश का मिश्रण न हो। न केवल राजपूत और

मराठा जैसी यौद्धा जातियों में विदेशी रक्त का मिश्रण है बल्कि ब्राह्मणों में भी है, जो इस सुखद भ्रांति में है कि वे सभी विदेशी तत्वों से मुक्त हैं।" जातिप्रथा के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि उसका विकास प्रजातियों के मिश्रण को रोकने अथवा रक्त की शुद्धता को बनाए रखने के साधन के रूप में हुआ है। वास्तव में जातिप्रथा का जन्म भारत की विभिन्न प्रजातियों के रक्त और संस्कृति के आपस में मिलने के बहुत बाद में हुआ। यह मानना कि जातियों की विभिन्नताएं अथवा प्रजाति की वास्तविक विभिन्नताएं और विभिन्न जातियों के संबंध में यह मानना कि वे इतनी ही अधिक विभिन्न प्रजातियां थीं, तथ्यों को तोड़ना मरोड़ना है।

पंजाब के ब्राह्मणों और मद्रास के ब्राह्मणों में क्या जातीय संबंध है? बंगाल के अछूत और मद्रास के अछूत में क्या जातीय संबंध है? पंजाब के ब्राह्मणों और पंजाब के चमारों में क्या जातीय अंतर है? मद्रास के ब्राह्मणों और मद्रास के परिहा में क्या जातीय अंतर है? प्रजाति की दृष्टि से पंजाब का ब्राह्मण उसी प्रजाति का है जिसका पंजाब का चमार है और मद्रास के ब्राह्मण की वही जाति है जो मद्रास के परिहा की। जातिप्रथा मानव-वंश या प्रजाति के विभाजन का निर्धारण नहीं करती। **जातिप्रथा तो एक ही प्रजाति के लोगों का सामाजिक विभाजन है।** यदि यह मान लिया जाए कि जातिप्रथा मानव प्रजाति को विभाजित कर देती है तो यह भी सवाल किया जा सकता है कि अगर भारत में अलग-अलग जाति और रक्त के समुदायों को अंतर्विवाह करने की अनुमति दी तो विभिन्न प्रजातियों और परिवारों को एक-दूसरे में समागम से क्या हानि होगी? इसमें संदेह नहीं कि जहां तक आदमियों और जानवरों का संबंध है उनमें इतना गहरा अंतर है कि विज्ञान इन्हें दो अलग-अलग जीव रूपों की मान्यता देता है लेकिन जो वैज्ञानिक प्रजातियों की शुद्धता (मिश्रण-हीनता) में विश्वास करते हैं, वे भी दावे के साथ यह नहीं कहते हैं कि अलग-अलग प्रजाति के लोग, अलग-अलग किस्म के होते हैं। वे सभी एक ही नस्ल की अलग-अलग किस्मों के होते हैं। वे एक-दूसरे की उप-जातियों से विवाह करके संतान उत्पन्न कर सकते हैं। ऐसी संतानें जो स्वयं भी आगे संतान उत्पन्न करने में समर्थ होंगी और जो बंध्या नहीं होंगी। जातिप्रथा के पक्ष में आनुवांशिकता और सुजननिकी की तर्कहीन बातें बताई जाती हैं। अगर जातिप्रथा सुजननिकी (यूरनिक्स) के मूलभूत सिद्धांत के अनुकूल होती तो इसमें किसी को आपत्ति न होती क्योंकि किसी को भी उत्तम व्यक्तियों द्वारा समागम से जाति की किस्म में सुधार लाने में आपत्ति नहीं हो सकती है। लेकिन यह समझना मुश्किल है कि जातिप्रथा के कारण उत्तम स्त्रियों और पुरुषों में सही समागम किस प्रकार सुनिश्चित होता है। जातिप्रथा नकारात्मक तथ्य है। यह केवल अलग-अलग जातियों के लोगों को आपस में अंतर्विवाह का निषेध करती है। यह ऐसा

सकारात्मक उपाय नहीं है जिससे एक ही जाति के दो उत्तम नर-नारी आपस में विवाह कर सकें। यदि जाति का उद्‌गम सुजननिकी के सिद्धांत पर आधारित है तो उपजातियों का प्रादुर्भाव भी सुजननिकी के आधार पर ही होना चाहिए। लेकिन क्या कोई गंभीरतापूर्वक यह कह सकता है कि उपजातियों का उद्‌गम सुजननिकी के कारण हुआ है? मैं समझता हूं कि स्पष्ट कारणों से ऐसा मानना बहुत ही असंगत है। अगर जाति का आशय प्रजाति या नस्ल से है तो उप जातियों में पाए जाने वाले अंतर को प्रजातीय अंतर नहीं माना जा सकता है तब उपजातियां भी उसी परिकल्पना के आधार पर उसी एक मूल नस्ल की उपखंड होगी। इससे स्पष्ट है कि उपजातियों में आपस में रोटी-बेटी के व्यवहार पर रोक लगाने का उद्‌देश्य प्रजाति या रक्त की शुद्धता बनाए रखना नहीं हो सकता। फिर यदि उपजातियों का उदगम सुजननिकी ही हो सकता तो इस कथन में कोई दम नहीं है कि प्रजाति का उदगम सुजननिकी है। फिर अगर यह मान भी लिया जाए कि जाति का उद्‌गम सुजननिकी के प्रयोजन से है तो अंतर्विवाह संबंधी निषेध समझ में आ जाता है लेकिन विभिन्न जातियों के बीच और विभिन्न उपजातियों के बीच खान पान पर भी निषेधाज्ञा लगाने का क्या प्रयोजन है? आपस में खान-पान से तो रक्त पर असर नहीं पड़ता और इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि इससे प्रजाति या नस्ल सुधरेंगी या खराब होगी। वे विज्ञान का नाम लेकर घोर अवैज्ञानिक विचार प्रस्तुत कर रहे हैं इससे सिद्ध होता है कि जाति का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है और जो लोग इसे मानव विकास का सत्य करार देने में लगे हैं सुजननिकी को व्यवहारिक संभावना के रूप में तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक हमें आनुवांशिकता के नियमों का पक्का ज्ञान न हो जाए। प्रो. बेटसन अपनी पुस्तक 'मेडेल्स प्रिंसिपल्स ऑफ हैरिडटी' में कहते है कि यदि संतान में बेहतर मानसिक गुण आए तो उसी के आधार पर यह कहना संभव नहीं है कि वे केवल किसी विशेष वंश-परंपरा के गुण के कारण ही आए हैं। हो सकता है कि जो गुण संतान में आए हैं या जो शारीरिक शक्ति उसमें अधिक मात्रा में है वह अनेक कारणों के होने से घटित है न कि केवल एक अनुवांशिक तत्व के उसके शरीर में होने के कारण। यदि यह तर्क दिया जाए कि जातिप्रथा सुजननिकी की परिकल्पना का परिणाम था तो उसका आशय यह होगा की आज के हिन्दुओं के पूर्वज आनुवांशिकता के विषय में उस ज्ञान से संपन्न थे जो आधुनिक वैज्ञानिकों के पास भी नहीं है। **पेड़ की जांच उसके फलों से की जानी चाहिए।** अगर जाति सुजननिकी के आधार पर होती तो उससे किस नस्ल के आदमी पैदा होने चाहिए थे? जहां तक शारीरिक क्षमता का संबंध है उसमें हिंदू प्रजाति सबसे घटिया किस्म सी-3 की है। वह छोटे आकार के बोनों की जाति है जिनका शारीरिक विकास अवरुद्ध है और जिनमें दम नहीं है। भारत ऐसा राष्ट्र है जिसकी

नब्बे प्रतिशत जनता सैनिक सेवा के लिए अयोग्य है। इससे स्पष्ट है कि जाति प्रथा आधुनिक वैज्ञानिकों की सुजननिकी की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। **जातिप्रथा एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जो हिन्दू समाज के ऐसे विकृत समुदाय की झूठी शान और स्वार्थ की प्रतीक है जो अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार इतने समृद्ध थे कि उन्होंने इस जातिप्रथा को प्रचलित किया और इस प्रथा को अपनी जोर जबरदस्ती के बल पर अपने से निचले तबके के लोगों पर लागू किया।**

(6)

जाति से आर्थिक उन्नति नहीं होती। जाति से न तो नस्ल या प्रजाति में सुधार हुआ है और न ही होगा। लेकिन इससे एक बात अवश्य सिद्ध हुई है कि इससे हिन्दू समाज पूरी तरह छिन्न-भिन्न और हताश हो गया है।

सबसे पहले हमें यह महत्वपूर्ण तथ्य समझना होगा कि **हिन्दू समाज एक मिथक मात्र है। हिन्दू नाम स्वयं विदेशी नाम है। यह नाम मुसलमानों ने भारतवासियों को दिया था ताकि वे उन्हें अपने से अलग कर सकें। मुसलमानों के भारत पर आक्रमण से पहले लिखे गए किसी भी संस्कृत ग्रंथ में इस नाम का उल्लेख नहीं मिलता।** उन्हें अपने लिए किसी समान नाम की जरूरत महससू नहीं हुई थी क्योंकि उन्हें ऐसा नहीं लगता था कि वे किसी विशेष समुदाय के हैं। वस्तुतः हिन्दू समाज नामक कोई वस्तु है ही नहीं। यह अनेक जातियों का समवेत रूप है। प्रत्येक जाति अपने अस्तित्व से परिचित है। वह अपने सभी समुदायों में व्याप्त है ओर सबको स्वयं में समाविष्ट किए हुए है और इसी में उसका अस्तित्व है। जातियों का कोई मिला-जुला संघ भी नहीं है। **किसी भी जाति को यह महसूस नहीं होता कि वह अन्य जातियों से जुड़ी हुई है सिर्फ उस समय को छोड़कर जब हिन्दू मुस्लिम दंगे होते हैं।** अन्य सभी अवसरों पर तो प्रत्येक जाति यह कोशिश करती है कि वह अपनी अलग सत्ता को ठीक से बनाए रखे और दूसरों से स्पष्ट रूप से अलग रहे। प्रत्येक जाति अपनों में ही खान-पान और शादी विवाह का संबंध रखती है यहां तक कि हर जाति अपना एक अलग पहनावा तक निश्चित करती है। इस बात से अलग दूसरा कारण क्या हो सकता है कि भारत के नर-नारी असंख्य किस्मों के परिधान पहनते हैं जो कि पर्यटकों के लिए हैरानी का कारण है। **दरअसल हर आदर्श हिन्दू उस चूहे की तरह है जो अपने ही बिल में घुसा रहता है।** दूसरों के संपर्क में नहीं आना चाहता। हिन्दुओं में उस चेतना का सर्वथा अभाव है जिसे समाजविज्ञानी समग्र वर्ग की चेतना कहते हैं प्रत्येक हिन्दू में जो चेतना होती है वह उसकी अपनी ही जाति के बारे में होती है। इसी कारण यह कहा जाता है कि हिन्दू लोग अपना समाज या राष्ट्र नहीं बना सकते। लेकिन अनेक भारतीयों को देशभक्ति की भावना

उन्हें यह मानने की अनुमति नहीं देती कि वे एक राष्ट्र नहीं है अथवा वह विभिन्न समुदायों का मात्र एक अव्यवस्थित समूह हैं। वे इस पर आग्रह करते हैं कि ऊपर से अलग-अलग दिखने वाली हमारी जनता में एक मूलभूत एकता है जो हिन्दुओं के जीवन की विशेषता है क्योंकि उनकी आदतों, प्रथाओं, विश्वासों और विचारों में एकरूपता है, जो भारत में सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। इसमें संदेह नहीं कि उनके स्वभाव, रीति-रिवाजों, धारणाओं और विचारों में समानता है, लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना स्वीकार्य नहीं होगा कि हिन्दू जनता को हिन्दू समाज की स्थिति प्राप्त है। ऐसा मान लेने का अर्थ है समाज रचना के अपरिहार्य तत्वों को सही रूप में न समझना। केवल भौतिक दृष्टि से पास-पास रहने के कारण लोगों को उस व्यक्ति से अधिक समाज की संज्ञा नहीं दी जा सकती जो अपने समाज से मीलों दूर रहने पर अपने समाज का सदस्य नहीं रहता है। दूसरी बात यह है कि केवल आदतों, रीति-रिवाजों, धारणाओं और विचारों की समानता होने से ही व्यक्तियों को समाज नहीं कहा जा सकता। चीजे भौतिक रूप से एक से दूसरे व्यक्ति के पास पहुंच सकती है। जैसे ईटें। इसी तरह एक समुदाय की आदतें, रीति, रिवाज, धारणाएं और विचार भी दूसरे समुदाय द्वारा अपनाए जा सकते हैं और इस तरह दोनों समुदायों में समानता प्रतीत होती है।

संस्कृति विकीर्ण होकर फैलती है और इसी कारण पास-पास न रहते हुए भी अनेक आदिम जातियों की आदतों, रीति-रिवाजों, धारणाओं और विचारों में समानता दिखाई देती है। लेकिन कोई यह नहीं कह सकता क्योंकि इन आदिम जातियों में समानता है इसलिए उनका एक समाज है। कुछ बातों में समानता एक समाज के निर्माण के लिए पर्याप्त नहीं है। लोग एक समाज का निर्माण करते है, क्योंकि वे समान रूप से व्यवहार करते हैं। व्यवहार से समभाव का होना समानुरूप से व्यवहार करने से सर्वथा भिन्न है। चीजों का असम्भव रूप में अपनाने का एकमात्र उपाय यही है कि सभी का एक-दूसरे से पूरा-पूरा संपर्क रहे। इसी बात को दूसरे ढंग से कह सकते हैं कि **समाज आपसी संपर्क और आपसी संवाद को सतत जारी रखकर ही अपने अस्तित्व को बनाए रखता है।** मूर्तरूप से कहा जाए तो सिर्फ यही काफी नहीं है कि सभी लोग वैसे ही आचरण करें जैसे अन्य लोग कर रहे हैं। अलग-अलग लोग एक जैसा ही सब कुछ कर रहे हैं तो भी उन्हें उसी समाज का अंग नहीं माना जा सकता। यह इससे सिद्ध होता है कि हिन्दुओं की विभिन्न जातियों के लोग एक से ही त्यौहार मनाते हैं लेकिन अलग-अलग जातियों द्वारा उन्हीं त्यौहारों के मनाए जाते रहने के बावजूद वे एक समाज में नहीं बंध पाए हैं। इसके लिए यह अनिवार्य है कि सभी लोग किसी सामूहिक कार्य में इस प्रकार मिल जुलकर बराबरी से हिस्सा लें या भागीदारी करें कि उन सभी में भी

वे ही भाव हो जिनसे शेष अन्य लोग भी अनुप्राणित होते हैं। **लोगों को जो चीज आपस में एक सूत्र में बांधती है और उन्हें एक समाज में पूरी तरह शामिल करती है, वह यह है कि हरेक व्यक्ति को सामाजिक गतिविधियों में इस तरह हिस्सेदार या भागीदार बनाया जाये, ताकि उसकी सफलता में उसे स्वयं अपनी सफलता और उसकी विफलता में अपनी विफलता दिखाई दे।** जातिप्रथा इस प्रकार की सामूहिक गतिविधियों का आयोजन नहीं होने देती और सामूहिक गतिविधियों को इस प्रकार वर्जित करके ही उसने हिन्दुओं को एक ऐसे समाज के रूप में उभरने से रोका है, जिसमें सभी समुदाय एक होकर जियें और उनमें एक ही चेतना व्याप्त हो जाये।

(7)

हिन्दू लोग प्रायः यह शिकायत करते हैं कि समाज में अलग से असामाजिक तत्वों का कोई दल है जो असामाजिक बुराईयों या भावना का कारण है लेकिन वे अपनी सुविधा के लिए यह भूल जाते हैं कि यह असामाजिक भावना उनकी अपनी जातिप्रथा का ही एक सबसे घृणित पक्ष है। एक जाति के लोग आनंद लेकर ऐसे गीत गाते हैं जिसमें दूसरी जाति के प्रति नफरत छिपी रहती है। पिछले विश्व युद्ध में जर्मन लोगों ने भी अंग्रेजों के विरूद्ध ऐसे ही अपमान भरे गीत गाए थे। हिन्दुओं के साहित्य में जाति विशेषों के उद्गम के संबंध में ऐसे अनेक गीत आदि हैं जिनमें एक जाति को सर्वोच्च और दूसरी को निंदा का पात्र बनाने का प्रयास किया गया है। **ऐसे साहित्य का एक घृणित नमूना सह्याद्रिखंड है।** यह असामाजिक भावना जाति तक ही सीमित नहीं है। इसकी जड़ें और भी गहरी हैं और उसने उपजातियों के आपसी संबंधों को भी विकृत कर दिया है। मेरे अपने प्रांत में स्वयं ब्राह्मणों की ही अनेक उप शाखाएं है, जैसे गोलक ब्राह्मण, देवरूख ब्राह्मण, कराड ब्राह्मण, पाल्श ब्राह्मण और चितपावन ब्राह्मण लेकिन इनमें परस्पर जो असामाजिकता की भावना है वह उतनी ही अधिक एवं उतनी ही उग्र है जैसे कि ब्राह्मणों और अन्य गैर-ब्राह्मण जातियों के बीच है। लेकिन इसमें कोई विचित्रता नहीं है। **जब भी कोई समुदाय अपने स्वार्थ से प्रेरित हो जाता है तो उसमें असामाजिकता की भावना उत्पन्न हो जाती है। इसके कारण वह समुदाय अन्य समुदायों से पूरा संवाद और संपर्क करना बंद कर देता है क्योंकि वह अपने स्वार्थ की सुरक्षा करना ही अपना उद्देश्य मान बैठता है।** यह असामाजिक भावना, अर्थात अपने स्वार्थ की रक्षा की भावना ही विभिन्न जातियों के एक दूसरे से अलग होने का एक वैसा ही विशिष्ट लक्षण है जैसा कि अलग-अलग राष्ट्रों का। **ब्राह्मणों का मुख्य उद्देश्य यह है कि गैर-ब्राह्मणों के विरूद्ध अपने स्वार्थ की रक्षा करें** और गैर-ब्राह्मणों का मुख्य उद्देश्य यह है कि ब्राह्मणों के विरूद्ध अपने स्वार्थ की रक्षा करों **इसलिए हिन्दु समुदाय**

विभिन्न जातियों का एक संग्रह मात्र नहीं है बल्कि वह शत्रुओं का समुदाय है। उसका हर विरोधी वर्ग स्वयं अपने लिए आरै अपने स्वार्थपूर्ण उद्‌देश्य की पूर्ति के लिए ही जीवित रहना चाहता है। इस जातिप्रथा का एक और निदंनीय पक्ष भी है। अंग्रेजों के पूर्वजों ने 'वार ऑफ द रोजेज' और 'क्रॉमवेलियन वार' से एक पक्ष की ओर से या दूसरे पक्ष की ओर से युद्ध में भाग लिया था लेकिन जिन लोगों ने इनमें से किसी एक के पक्ष में युद्ध में भाग लिया, उनके आज के वंशज दूसरे पक्ष की ओर से भाग लेने वालों के वंशजों के विरूद्ध किसी प्रकार की बदले की भावना नहीं रखते। वे इस आपसी लड़ाई को भूल चुके है लेकिन आजकल के गैर-ब्राह्मण आजकल के ब्राह्मणों को इसलिए क्षमा नहीं कर पा रहे हैं क्योंकि उनके पूर्वजों ने शिवाजी का अपमान किया था। इसी तरह आजकल के कायस्थ भी आजकल के ब्राह्मणों को इसीलिए माफ नहीं कर रहे हैं क्योंकि ब्राह्मणों के पूर्वजों ने उनके पूर्वजों के पूर्वजों का अपमान किया था। अंग्रेजों और भारतीयों में ऐसा अंतर क्यों है? स्पष्ट है कि यह जातिप्रथा के कारण ही है। विभिन्न जातियों के होने के कारण और जातिगत चेतना के कारण ही विभिन्न जातियों के आपस में अतीत के विरोध भुलाए नहीं जा सके हैं और इसी कारण जातियों में एकात्मता नहीं आ पाई है।

(8)

देश के विभिन्न असम्मिलित क्षेत्रों और अंशतः सम्मिलित क्षेत्रों के बारे में आजकल जो चर्चा चल रही है, उससे भारत में मूल निवासी जन-जातियों की स्थिति पर लोगों का ध्यान गया है। इन मूल निवासी जन-जातियों के लोगों की संख्या लगभग एक करोड़ तीस लाख होगी। यदि हम इस प्रश्न को छोड़ दें कि नए संविधान में उन्हें सम्मिलित न करना सही है या गलत, सच यह है कि हालांकि हमारा देश इस बात पर गर्व करता है कि हमारी सभ्यता हजारों वर्ष पुरानी है, ये मूल निवासी जनजातियां उसी पुरानी असभ्य स्थिति में रह रही है। न केवल वे असभ्य स्थिति में है बल्कि कुछ जातियों के काम धंधे भी इसी प्रकार के हैं कि उन सबको आपराधिक जातियों में वर्गीकृत कर दिया गया है। इसी तरह हमारी आज की भरी पूरी सभ्यता की अवस्था में भी एक करोड़ तीस लाख आदमी अभी भी जंगलियों की तरह रह रहे हैं और वंश परंपरागत अपराधियों का जीवन बिता रहे हैं लेकिन हिन्दुओं को इसमें कभी कोई शर्म महसूस नहीं हुई। मैं समझता हूं कि यह एक ऐसी घटना है जो अन्यत्र कही नहीं है। इस शर्मनाक स्थिति का क्या कारण है? इन आदिम जातियों को सभ्य बनाने का और उन्हें सम्मानजनक ढंग से जीविका दिलाने का प्रयास क्यों नहीं किया गया? हिन्दू लोग उनकी इस बर्बर अवस्था का यह कारण बताएंगे कि वे जन्म से ही असभ्य हैं। वे यह कभी नहीं मानेंगे कि ये

मूल निवासी जन-जातियां इस कारण असभ्य की असभ्य रह गई हैं क्योंकि हिन्दू लोगों ने उन्हें सभ्य बनाने, उन्हें चिकित्सीय सहायता देने, उन्हें सुधारने और उन्हें अच्छा नागरिक बनाने का कोई प्रयास नहीं किया। अब मान लें कि कोई हिन्दू भी इन मूल निवासियों के लिए वह सब कुछ करना चाहता है जो ईसाई प्रचारक कर रहा है तो क्या वह वैसा कर पाता? मैं कहता हूं नहीं। इन मूल निवासी जनजातियों को सभ्य बनाने का आशय होगा, अपने ही लोगों की तरह उन्हें अपना बनाना, उनके बीच जाकर रहना और उनके बीच बंधुत्व की भावना विकसित करने की कोशिश करते रहना। किसी हिन्दू के लिए ऐसा करना कैसे संभव है? **उसकी पूरी जिंदगी अपनी जाति को बनाए रखने की भरसक कोशिश तक ही सीमित है। जाति ही उसकी वह अमूल्य निधि है जिसकी उसे हर कीमत पर रक्षा करनी है।** उसे यह कभी सहन नहीं हो सकता कि वह उस निधि को उन मूल निवासी जनजातियों से संपर्क करने में गंवा दे, **जिन्हें वैदिक-काल से ही नीच अनार्यों का अंश माना जाता रहा है।** ऐसा नहीं है कि हिन्दुओं को पतित मानवता के उत्थान की कर्तव्य भावना सिखाई ही नहीं जा सकती लेकिन कठिनाई यह है कि किसी भी स्थिति में वह जाति की रक्षा के बारे में अपने कर्तव्य को नहीं भूल पाता। इसलिए जाति ही वह मुख्य स्पष्टीकरण है, जिसके कारण हिन्दुओं ने स्वयं सभ्य हो जाने के बावजूद असभ्य जातियों को असभ्य ही बने रहने दिया है और इसमें उन्हें न तो लज्जा का अनुभव होता है न ही बुरा लगता है और न कोई पश्चाताप होता है। अगर ये असभ्य लोग असभ्य ही बने रहे तो शायद उनसे हिन्दुओं को कोई खतरा न हो। लेकिन अगर गैर-हिन्दू उन्हें अपना लें और अपने धर्म में उनको धर्म-परिवर्तन कर लें, तो हिन्दुओं के शत्रुओं की संख्या बढ़ जाएगी। अगर ऐसा हुआ तो उसका कारण स्वयं हिंदू लोग और उनकी जातिप्रथा होगी।

(9)

हिन्दुओं ने न केवल मूल निवासी जनजातियों को सभ्य बनाने का मानवतावादी कार्य करने का कोई प्रयास नहीं किया, बल्कि ऊंची जाति वाले हिन्दुओं ने जान-बूझकर हिन्दू समाज की निचली जातियों को ऊंची जाति के सांस्कृतिक स्तर तक ऊपर उठने की मोहलत नहीं दी। मैं उसके दो उदाहरण देता हूं। एक है सुनार जाति और दूसरा पाठारे प्रभु जाति। ये दोनों ही समुदाय महाराष्ट्र में काफी मशहूर हैं। ये दोनों ही समुदाय ब्राह्मणों के तौर-तरीकों और आदतों को अपनाने की कोशिश करते हुए अपनी सामाजिक हैसियत बढ़ाने का प्रयास कर हरे थे। शेष अन्य समुदाय भी ऐसा ही करते थे। सुनार लोग अपने को दैवज्ञ ब्राह्मण बताते थे और धोती को दोहरी करके पहनते थे तथा नमस्कार कहकर अभिवादन करते थे। **धोती के पहनने का यह ढंग और नमस्कार करना, ये दोनों ही**

ब्राह्मणों के खास रिवाज थे। ब्राह्मणों ने उनकी इस नकल को पसदं नहीं किया और न ही सुनारों के इस प्रयास को पसंद किया कि लोग उन्हें भी ब्राह्मण समझें। उन्होंने पेशवा के प्राधिकार से सुनारों के ब्राह्मणों वाले तौर तरीके अपनाने के प्रयास को बंद कराने में सफलता प्राप्त कर ली। उन्होंने बंबई स्थित ईस्ट इंडिया कंपनी परिषद के अध्यक्ष से सुनारों के विरूद्ध निषेधाज्ञा भी जारी करवा दी। पाठारे प्रभु जाति में किसी समय विधवाओं के पुनर्विवाह की प्रथा थी। लेकिन उस जाति के कुछ लोग विधवाओं के पुनर्विवाह की प्रथा को कुछ समय के बाद सामाजिक पिछड़ेपन का प्रतीक मानने लगे, जिसका खास कारण यह था कि यह ब्राह्मणों में प्रचलित प्रथा के प्रतिकूल थी। इसलिए पाठारे प्रभु जाति के कुछ लोगों ने अपनी जाति का स्तर ऊंचा करने के लिए अपनी जाति में प्रचलित विधवा विवाह प्रथा को रोकने का प्रयत्न किया। पूरा समुदाय दो खेमों में बंट गया। एक पुनर्विवाह के पक्ष में और दूसरा विपक्ष में। पेशवा ने उन लोगों का पक्ष लिया जो विधवाओं के पुनर्विवाह के पक्ष में थे और इस तरह उन्होंने पाठारे प्रभु समुदाय के ब्राह्मणों के तौर–तरीके अपनाने से रोक दिया। हिन्दू लोग मुसलमानों की इसलिए आलोचना करते हैं कि **उन्होंने तलवार के बल पर अपना धर्म फैलाया।** वे ईसाई धर्म का भी इसलिए उपहास करते हैं कि वे धर्म न्याधिकरण के आदेश से काम करते हैं, लेकिन यदि सच पूछा जाए तो हमारे आदर का अधिक पात्र कौन है? वे मुसलमान या ईसाई जो बलपूर्वक अनिच्छुक व्यक्तियों को वह सब करने के लिए विवश कर देते हैं जिसे वे उनकी मुक्ति के लिए आवश्यक समझते हैं, **अथवा वे हिन्दू जो ज्ञान का प्रकाश फैलाने नहीं देते, जो दूसरे को अंधेरे में रखने की कोशिश करते रहते हैं**, जो अपने बौद्धिक और सामाजिक दायित्व को उन लोगों के साथ मिल–बांटना नहीं चाहते, जो उस दाय को अंगीकृत करने के लिए पूरी तरह तैयार और इच्छुक हैं? मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि **अगर मुसलमानों को क्रूर माना जाए तो हिन्दुओं को भी निकृष्ट माना जाना चाहिए और निकृष्टता क्रूरता से भी अधिक निदंनीय है।**

(10)

हिन्दू धर्म प्रचारमूलक धर्म था या नहीं, यह विवादास्पद है। कुछ लोगों का विचार है कि यह प्रचारमूलक धर्म कभी नहीं रहा। दूसरों की यह मान्यता है कि यह प्रचारमूलक था, तथापि यह स्वीकार करना ही होगा कि किसी समय यह प्रचारमूलक अवश्य रहा होगा, क्योंकि यह अगर ऐसा न होता तो इसका प्रचार पूरे भारत में सर्वत्र न हो पाता। यह तथ्य भी अवश्य स्वीकार करना होगा कि आज यह प्रचारमूलक नहीं रह पाया है, इसलिए सवाल यह नहीं है कि हिन्दू धर्म प्रचारमूलक धर्म था या नहीं। असली

सवाल यह कि **हिन्दू धर्म प्रचारमूलक क्यों नही रह पाया?** मेरे पास इसका जवाब है कि **हिन्दू धर्म तब से प्रचारमूलक धर्म नहीं रह गया जब से हिन्दुओं में जातिप्रथा का उदगम हुआ। जातिप्रथा धर्म-परिवर्तन नहीं होने देती।** धर्म परिवतर्न में सिर्फ यही समस्या नहीं होती कि नई धारणाएं और नए सिद्धांत अपना लिए जाएं बल्कि दूसरी और सबसे बड़ी समस्या इसमें यह पैदा होती है कि धर्म परिवर्तित व्यक्ति को किस जाति में स्वीकार किया जाए? जो भी हिन्दू अन्य धर्मियों को अपने धर्म में शामिल करना चाहता है उसे यह समस्या अनिवार्य रूप से झेलनी पड़ती है। किसी क्लब की सदस्यता तो सबके लिए समान रूप से खुली रहती है, किंतु किसी जाति विशेष की सदस्यता हर ऐरे-गैरे के लिए नहीं खुली रहती। **जाति का नियम ही यह है कि उसकी सदस्यता उसी जाति में उत्पन्न व्यक्ति को प्राप्त होती है।** जातियां स्वशासित होती है। किसी को कहीं भी यह अधिकार नहीं है कि किसी जाति को किसी बात के लिए विवश करे कि वह अपने सामाजिक जीवन में किसी नवागन्तुक को स्वीकार कर ले। हिन्दू समाज अनेक जातियों का समूह है और क्योंकि हर एक जाति एक बंद समाज की तरह है इसलिए धर्म परिवर्तित व्यक्ति के लिए (किसी भी जाति में) कहीं कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार इस जातिप्रथा ने ही हिन्दुओं को हिन्दू धर्म फैलाने से रोका और अन्य धार्मिक समुदायों को इसमें लीन होने से रोका। अतः जब तक जातिप्रथा रहेगी, हिन्दू धर्म को प्रचारात्मक धर्म नहीं बनाया जा सकता और **शुद्धि (हिन्दू धर्म से धर्म परिवर्तिर्तत लोगों को पुनः हिन्दू बनाना) न केवल मूर्खता होगी, बल्कि निरर्थक भी होगी।**

(11)

हिन्दू समुदाय जिन कारणों से शुद्धि करने में असमर्थ हैं उन्हीं कारणों से उनका संगठन भी असंभव है। संगठन का मूल आधार यह है कि हिन्दुओं के मन से उस कायरता और बुझदिली को हटा दिया जाए, जिसके कारण वह मुसलमानों और सिखों से अलग हो जाते हैं तथा **अपनी रक्षा के लिए वीरता के स्थान पर चालाकी और धोखेबाजी के घटिया तरीके अपनाते हैं।** एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि सिख या मुसलमान को वह शक्ति कहां से प्राप्त होती है जिससे वह बहादुर और निडर बन जाता है। मेरा विश्वास है कि यह इसलिए नहीं है कि उनके शरीर में अपेक्षाकृत अधिक शक्ति होती है या उनकी खुराक अधिक अच्छी है या वे अधिक व्यायाम करते हैं। **यह शक्ति उनके मन में उत्पन्न इस भावना के कारण है कि अगर किसी सिख पर खतरा होगा तो सारे सिख उसके बचाव के लिए दौड़ आएंगे और यदि किसी मुसलमान पर हमला हुआ तो सारे मुसलमान उसकी मदद को आएंगे,** हिन्दुओं के पास ऐसी शक्ति नहीं है। उसके मन में यह विश्वास नहीं है कि शेष हिन्दू उसके बचाव के लिए आएंगे। अकेले

होने और भाग्य से अकेले रहने के इस अहसास के कारण वह शक्तिहीन रहता है। उसके मन में बुझदिली और कायरता घर कर जाती है और लड़ाई होने पर या तो वह आत्म समर्पण कर देता है या भाग जाता है। दूसरी ओर सिख या मुसलमान निडर होकर लड़ता रहता है क्योंकि उसे पता है कि अकेला होने के बावजूद वह अकेला नहीं रहेगा। उसके मन में इस विश्वास का होना उसे लड़ते रहने में सहायक होता है और दूसरे में इस विश्वास का अभाव पराजय स्वीकार करने की स्थिति पैदा कर देता है। यदि इस विषय का और आगे अध्ययन किया जाए और यह पता लगाया जाए कि सिखों और मुसलमानों में इस आत्मविश्वास का क्या कारण है और हिन्दुओं में मदद और बचाव के विषय में इतनी निराशा क्यों भरी हुई है, तो आपको ज्ञात होगा कि इसका कारण उनके अपने रहन–सहन के तौर तरीकों में अंतर है। एक ओर सिखों और मुसलमानों के आपसी रहन–सहन का तरीका, उनमें भाईचारे की भावना पैदा करता है। दूसरी ओर हिन्दुओं के आपसी रहन–सहन के तौर–तरीके इस भावना को पैदा नहीं होने देते। सिखों और मुसलमानों में एकता का वह सामाजिक तत्व है, जो उन्हें भाई–भाई बनाता है। हिन्दुओं में एकता का ऐसा कोई तत्व नहीं है और **कोई भी हिन्दू दूसरे हिन्दू को अपना भाई नहीं मानता।** इससे स्पष्ट हो जाता है कि सिख लागे ऐसा क्यों कहते और सोचते हैं कि एक सिख या एक खालसा सवा लाख आदमियों के बराबर होता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि एक मुसलमान हिन्दुओं की भीड़ के बराबर क्यों है। निःसंदेह यह अतंर हिदुंओं की जातिपथा के कारण है। **जब तक जातिप्रथा रहेगी, हिन्दुओं में संगठन नाम की कोई बात नहीं रहेगी और जब तक उनमें संगठन नहीं होगा हिन्दू कमजोर और डरपोक रहेंगे।** हिन्दू कहते हैं कि उनकी कौम बड़ी सहनशील है। मेरे मत से यह बात सही नहीं है। अनेक अवसरों पर यदि उनका असहनीय रूप देखा जा सकता है और कुछ अवसरों पर उनमें सहनशीलता देखी जाती है तो उसका कारण यह है कि या तो वे विरोध करने में अत्यधिक अशक्त हैं या पूरी तरह उदासीन हैं। हिन्दुओं की यह उदासीनता इस कदर उनकी आदत का हिस्सा बन चुकी है कि हिन्दू किसी अपमान या अन्याय को बुझदिल बनकर सहता रहेगा। मौरिस के शब्दों में "उनमें यह दिखाई देता है कि बड़े लोग छोटे लोगों को कुचल रहे हैं, ताकतवर लोग कमजोर को मार रहे हैं, क्रूर लोग निडर होकर विचरण कर रहे हैं, दयालु लोग साहस न होने के कारण चुप हैं और श्रीमान लोग लापरवाह हैं।" हिन्दू देवता भी धैर्यवान और सहिष्णु हैं इसलिए अन्याय और उत्पीड़न के शिकार हुए हिन्दुओं की दयनीय स्थिति की कल्पना करना असंभव नहीं है। **उदासीनता किसी समुदाय को लगने वाली सबसे घातक बीमारी है। हिन्दू परस्पर इतने उदासीन क्यों हैं? मेरे विचार से यह उदासीनता जातिप्रथा के कारण है और इसके कारण**

किसी अच्छे काम के लिए भी उनमें संगठन और सहयोग होना असंभव हो गया है।

(12)

कोई भी सुधार तब शुरू होता है जब कोई व्यक्ति अपने समुदाय के मानकों, समुदाय की सत्ता और समुदाय के हित से ऊपर और उससे अलग अपने विचारों, अपनी धारणाओं और स्वयं की स्वतंत्रता और हित पर अधिक बल देता है। लेकिन यह सुधार आगे लगातार संपन्न होगा या नहीं, यह इस पर निर्भर करता है कि उस व्यक्ति का समुदाय उसके दृढ़ विचारों को किस सीमा तक समर्थन देता है। अगर समुदाय में सहनशीलता की भावना है और वह अपने लोगों से न्यायोचित व्यवहार करता है, तो ऐसे व्यक्ति अपने विचारों पर दृढ़ रहेंगे और अंततः अन्य लोगों को भी नए विचारों से सहमत कराने में सफल हो जाएंगे। किंतु दूसरी ओर, अगर समुदाय सहनशील नहीं है और वह सही या गलत किसी भी उपाय से ऐसे व्यक्तियों की आवाज को दबा देता है तो ऐसे व्यक्ति समाप्त हो जाएंगे और सुधार की आशा भी समाप्त हो जाएगी। आजकल किसी भी जाति के पास किसी भी ऐसे व्यक्ति को जाति से बहिष्कृत करने का पूरा अधिकार रहता है जिसने उस जाति के नियम को तोड़ने का अपराध किया हो। अगर इस बात को समझ लिया जाए कि जाति से बहिष्कृत होने का अर्थ, उसे समाज के किसी भी कार्य में भाग न लेने देना है तो **वस्तुतः यह कहना कठिन है कि जाति-बहिष्कार अधिक कठोर दंड है या मृत्यु।** इसलिए आश्चर्य नहीं कि किसी हिन्दू में यह साहस नहीं है कि वह जाति की सीमा को तोड़कर अपनी स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति कर सके। यह सही है कि आदमी अपने सहयोगियों से पूर्णतः सहमत नहीं हो सकता, लेकिन यह भी सही है कि वह उनके बिना रह भी नहीं सकता। वह यह चाहता है कि उसके सभी साथी उसकी अपनी शर्तों पर उसके साथ रहें। लेकिन अगर वे लोग उसकी शर्ते नहीं मानते तो वह किसी भी शर्त पर उनका साथ लेने के लिए तैयार हो जाएगा। भले ही उसे इसके लिए पूर्णतः आत्म समर्पण करना पड़े। कारण यह है कि कोई भी व्यक्ति समाज के बिना नहीं रह सकता। मनुष्य की असहायता का लाभ उसकी जाति हर समय उठाने के लिए तैयार रहती है और वह इस पर भी बल देती है कि सभी व्यक्ति उस जाति की संहिता का अक्षरशः आरै तत्वतः पूरा पालन करें। **कोई भी जाति किसी भी सुधारवादी व्यक्ति के जीवन को नरकतुल्य बना देने के लिए षडयंत्र करके बड़ी आसानी से अपने को संगठित कर सकती है। अगर षडयंत्र अपराध है तो मेरी समझ में यह नहीं आता कि अगर कोई आदमी अपनी जाति के नियमों के विरूद्ध कुछ करने का साहस करता है, तो उसे जाति-बहिष्कृत करने के जघन्य**

अपराध को कानून में दंडनीय अपराध क्यों नहीं बनाया जाता। लेकिन आजकल जो स्थिति है उसके अनुसार कानून भी हर जाति को इस बात का पूरा अधिकार दे रहा है कि वह अपने सदस्यों के लिए नियम बनाए उन्हें उनके अनुसार चलाए और विराधियों को जाति वहिष्कृत करके दंडित करे। इस प्रकार रूढ़िवादियों ने सुधारकों को उत्पीड़ित करने और सुधारों को समाप्त करने के लिए जाति को सशक्त माध्यम के रूप में अपनाया है।

(13)

हिन्दुओं की नीति और आचार पर जाति का प्रभाव अत्यधिक सोचनीय है। जाति ने जन–चेतना को नष्ट कर दिया है। उसने सार्वजनिक धर्मार्थ की भावना को भी नष्ट कर दिया है। जाति के कारण किसी भी विषय पर सार्वजनिक सहमति का होना असंभव हो गया है। **हिन्दुओं के लिए उनकी जाति ही उनका समाज है। उनका उत्तरदायित्व अपनी जाति तक सीमित है। उनकी निष्ठा अपनी जाति तक ही सीमित है।** गुणों का आधार भी जाति ही है और नैतिकता का आधार भी जाति ही है। सही व्यक्ति के प्रति (अगर वह उनकी अपनी जाति का नहीं है) उनकी सहानुभूति नहीं होती। गुणों की कोई सराहना नहीं है, जरुरतमंद के लिए कोई सहायता नहीं है। दुखियों की पुकार का कोई जवाब नहीं है। अगर सहायता दें तो वह केवल अपनी जाति मात्र तक सीमित है। सहानुभूति है, लेकिन अन्य जातियों के लोगों के लिए नहीं। **क्या हिन्दू किसी भी महान और अच्छे व्यक्ति के नेतृत्व को स्वीकार कर सकते हैं और उसका अनुसरण कर सकते है?** (अर्थात बाबा साहब डा. आंबेडकर) यदि कोई महात्मा (मोहनदास गांधी) हो तो उसकी बात अलग है, लेकिन सामान्य उत्तर यही है कि वह किसी नेता का अनुसरण तभी करेगा जब वह उसकी जाति का हो। ब्राह्मण, ब्राह्मण नेता को ही मानेगा, कायस्थ, कायस्थ नेता का ही अनुसरण करेगा, आदि। **हिन्दुओं में इस बात की क्षमता ही नहीं कि वे अपनी जाति से भिन्न अन्य जाति के व्यक्ति के गुणों का सही मूल्यांकन कर सकें।** गुणों कि सराहना तभी होती है जब वह व्यक्ति अपनी जाति का हो। उनकी पूर्ण नैतिकता उतनी ही निम्न कोटी की है, जितनी असभ्य जातियों की होती है। आदमी कैसा भी हो, सही या गलत, अच्छा या बुरा, बस अपनी जाति का होना चाहिए। न उन्हें गुणों की प्रशंसा से मतलब है, न बुराई के विरोध से। उनके लिए मुद्दा सिर्फ इतना है कि अपनी जाति का पक्ष लें या नहीं। **क्या हिन्दुओं ने अपनी जाति के हितों–स्वार्थों की रक्षा करने में अपने देश के प्रति विश्वासघात नहीं किया है?**

(14)

अगर आप लोगों में से कुछ जातिप्रथा द्वारा उत्पन्न दुष्प्रभावों की इस ऊबानेवाली चर्चा सुनते-सुनते थक गए हैं, तो मुझे आश्चर्य न होगा। इसमें कोई नई बात नहीं है। इसलिए अब मैं इस समस्या के रचनात्मक पहलू के बारे में कहना आरंभ करता हूं। आपसे यह अवश्य पूछा जा सकता है कि **अगर आप जाति के विरूद्ध हैं तो आपके विचार से एक आदर्श समाज कैसा होगा? यदि आप मुझसे पूछते हैं, मेरा आदर्श समाज स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे पर आधारित होगा** और ऐसा क्यों न हो? भाईचारे के विषय में क्या आपत्ति हो सकती है? मेरे विचार से तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती। आदर्श समाज गतिशील होना चाहिए। उसमें ऐसी भरपूर मार्ग होने चाहिए कि वह समाज के एक हिस्से में हुए परिवर्तन की सूचना अन्य हिस्सों को दे दें। **आदर्श समाज में अनेक प्रकार के हित होने चाहिए, जिन पर लोग सोच-समझकर विचार-विमर्श करें और उनके बारे में एक दूसरे को बताएं और सब उसमें हिस्सा लें।** समाज में विभिन्न लोगों के बीच संपर्क के ऐसे बहुविध और निर्विवाद बिंदु होने चाहिए, जहां साहचर्य या संगठन के अन्य रूपों से भी संवाद हो सके। दूसरे शब्दों में समाज के भीतर संपर्क का सर्वत्र प्रचार होना चाहिए। इसी को भाईचारा कहा जाता है और यह प्रजातंत्र का दूसरा नाम है। प्रजातंत्र, सरकार का एक स्वरूप मात्र नहीं है। यह वस्तुतः साहचर्य की स्थिति में रहने का एक तरीका है जिसमें सार्वजनिक अनुभव का समवेत रूप से संप्रेषण होता है। **प्रजातंत्र का मूल है, अपने साथियों के प्रति सम्मान और आदर भावना।** क्या स्वाधीनता पर किसी को भी कोई आपत्ति हो सकती है? अगर स्वाधीनता का अर्थ निर्बाध रूप से कहीं भी आने-जाने का अधिकार है, या जीवित रहने तथा शरीर की रक्षा का अधिकार है, तो इसमें कुछ लोगों को ही आपत्ति होगी। अगर स्वाधीनता का अर्थ अपने शरीर को पूर्णतः स्वस्थ रखने के लिए जीविका-उपार्जन के लिए संपत्ति, उपकरणों और सामग्री पर अधिकार है तो इस पर भी कोई आपत्ति नहीं है। स्वाधीनता को वह लाभ क्यों न दिया जाए जो किसी व्यक्ति की शक्तियों के प्रभावपूर्ण और सक्षम उपयोग से प्राप्त हो सकता है?

जातिप्रथा के जो समर्थक जीवन, शरीर और संपत्ति के अधिकार को ही स्वाधीनता मानते है, वे स्वाधीनता के इस स्वरूप को एकदम स्वीकार नहीं करेंगे, क्योंकि इसमें **अपनी जीविका को स्वयं चुनने का अधिकार निहित है,** किंतु इस स्वाधीनता पर आपत्ति करने का अर्थ है, **दासता को शाश्वत बनाना,** क्योंकि **दासता का अर्थ** केवल कानूनी अधीनीकरण या परतंत्रता नहीं है। इसका अर्थ है, **समाज में व्याप्त वह स्थिति जिसमें कुछ लोगों को विवश होकर अन्य लोगों से उन प्रयोजनों को भी**

स्वीकार करना होता है, जिनके अनुसार उन्हें आचरण करना है। यह स्थिति तब भी रह सकती है, जब कानूनी अर्थ में दासता का अस्तित्व न हो। यह स्थिति जातिप्रथा की तरह ऐसी दशाओं में पाई जाती है, जहां कुछ व्यक्ति अपनी पसंद का धंधा छोड़कर स्वयं पर थोपे गए अन्य धंधे करने पर विवश हो जाते हैं। क्या समानता पर कोई आपत्ति हो सकती है? फ्रांस की क्रांति के नारे का यह सबसे विवादास्पद अंश रहा है। समानता के विरूद्ध आपत्तियां ठीक हो सकती हैं और यही मानना होगा कि सभी लोग एक समान नहीं होते। लेकिन उससे क्या होता है। समानता भले ही काल्पनिक वस्तु हो किंतु फिर भी उसे निर्देशक सिद्धांत के रूप में स्वीकार करना ही होगा। **मनुष्य की शक्ति तीन बातों पर निर्भर है :–**

(1) शारीरिक आनुवंशिकता

(2) सामाजिक विरासत या धरोहर, जो उसे माता–पिता द्वारा देखभाल, शिक्षा, ज्ञान–विज्ञान का संचय ये सब उसे बर्बर की अपेक्षा अधिक सक्षम मनुष्य बनाने वाले सभी साधन के रूप में प्राप्त होते हैं और अंततः

(3) उसकी अपनी कोशिशें।

इन तीनों पहलुओं की दृष्टि से निःसंदेह मनुष्य असमान हैं किंतु प्रश्न यह है कि क्या उनके असमान होने के कारण हम भी उन्हें असमान मानकर व्यवहार करें? इस प्रश्न का जवाब समानता के विरोधियों को अवश्य देना होगा। जहां तक व्यक्तिवादियों का दृष्टिकोण है, लोगों को इसलिए असमान माना जाना चाहिए क्योंकि उनके प्रयत्न भी असमान होते हैं। **प्रत्येक मनुष्य की शक्ति के पूर्ण विकास के लिए उसे अधिक से अधिक प्रोत्साहन देना वांछनीय है।** लेकिन अगर मनुष्य को उल्लिखित दो कारणों से असमान मानकर उसके साथ व्यवहार किया जाए तो उसका क्या परिणाम होगा? स्पष्ट है कि जो व्यक्ति जन्म, शिक्षा, परिवार का नाम, व्यावसायिक संबंध और विरासत में मिली संपत्ति की दृष्टि से बेहतर है, वह अधिक अच्छा माना जाता है। किंतु ऐसी स्थितियों में जो चयन होगा, उसे योग्य व्यक्ति का चयन नहीं कहा जाएगा। चयन विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्ति का होगा। इसलिए यदि हम तीसरे कारण से लोगों को असमान मानने पर बाध्य होते हैं, तो यह भी उपयुक्त प्रतीत होता है कि पहले दो कारणों से हम लोगों को यथासंभव एक समान समझें। दूसरी ओर यह भी तर्क दिया जा सकता है कि यदि समाज के लिए अपने सदस्यों का अधिकतम सहयोग लेना अच्छा है, ऐसा तभी संभव हो सकता है जब कि प्रत्येक कार्य के आरंभ में उन्हें यथासंभव एक समान मानकर उनसे व्यवहार किया जाए। यह एक कारण है जिसके फलस्वरूप हम समानता

को अस्वीकार नहीं कर सकते। लेकिन समानता को अनिवार्यतः स्वीकार करने का एक अन्य कारण भी है। एक राजनीतिज्ञ को असंख्य लोगों से व्यवहार करना पड़ता है। उसके पास न तो समय है और न यह जानकारी कि वह प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता या उसकी सामर्थ्य के अनुसार व्यवहार करे। मनुष्यों के प्रति न्यायोचित व्यवहार कितना ही वांछनीय या तर्कसंगत हो, तथापि विशाल जनसंख्या को वर्गीकृत करना या उन्हें अलग-अलग करना संभव नहीं है। इसलिए राजनीतिज्ञ को एक सरल और व्यापक नियम का पालन करना चाहिए और वह सरल और व्यापक नियम है, कि सभी के साथ समान व्यवहार हो। सिर्फ इसलिए नहीं कि वे इस तरह के हैं बल्कि इसलिए कि उनका वर्गीकरण या उन्हें अलग-अलग करना असंभव हैं, समानता का सिद्धातं **दैदीप्यमान भ्रम है,** लेकिन कुल मिलाकर यह तरीका है, जिससे कोई राजनीतिज्ञ राजनीति कर सकता है क्योंकि राजनीति पूर्णतः व्यावहारिक विषय है, जिसकी कसौटी भी पूर्णतः व्यावहारिक होती है।

(15)

लेकिन सुधारकों का एक वर्ग ऐसा है, जिसका आदर्श कुछ और ही है। ये स्वयं को आर्यसमाजी कहते हैं। सामाजिक संगठन का इनका आदर्श चातुर्वर्ण्य, अर्थात पूरे समाज का चार वर्णों में विभाजन है, न कि चार हजार जातियों में, जैसा कि भारत में है। अपने सिद्धांत को अधिक आकर्षक बनाने के लिए और विरोधियों को हतप्रभ करने के लिए चातुर्वर्ण्य के ये प्रचारक बहुत सोच-समझकर बताते हैं कि उनका चातुर्वर्ण्य जन्म के आधार पर नहीं, बल्कि गुण के आधार पर है। यहां पर पहले ही मैं बता देना चाहता हूं कि भले ही यह चातुर्वर्ण्य गुण के आधार पर हो, किंतु यह आदर्श मेरे विचारों से मेल नहीं खाता। पहली बात तो यह है कि अगर आर्यसमाजियों के चातुर्वर्ण्य के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति को उसके अपने गुण के अनुसार हिन्दू समाज में स्थान मिलता है तो मेरी समझ में यह नहीं आता कि आर्यसमाजी लोग सभी लोगों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम से पुकारते ही क्यों हैं? यदि किसी विद्वान को ब्राह्मण न भी कहा जाए तो भी उसे आदर प्राप्त होगा। यदि कोई सिपाही हो तो क्षत्रिय कहे बिना भी उसका सम्मान होगा। आर्यसमाजी लोगों का ध्यान अभी तक इस बात पर नहीं जा सका है कि अगर यूरोपीय समाज अपने सिपाहियों और सेवकों को कोई स्थायी नाम दिए बिना उनका सम्मान कर सकता है तो हिन्दू समाज को ऐसा करने में क्या कठिनाई है। इन नामों को जारी रखने में एक और भी आपत्ति है। **सभी सुधारों के मूल में यह तथ्य होता है कि मनुष्यों और वस्तुओं के प्रति लोगों की धारणाओं, भावनाओं और मानसिक प्रवृत्ति में परिवर्तन हो जाए।** ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वे नाम हैं, जिनकी हर हिन्दू के मस्तिष्क में

एक निश्चित और रूढ़ धारणा बनी हुई है। वह धारणा यह है कि ये सभी जन्म के आधार पर एक सोपनिक क्रम में है। जब तक ये नाम बने रहेंगे, तब तक हिन्दू जन्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को ऊंची से लेकर निम्नतम जाति के सोपानिक क्रम में मानते रहेंगे और तद्नुसार व्यवहार करते रहेंगे। हिन्दुओं को यह सब कुछ भूल जाना होगा। लेकिन जब तक ये पुराने नाम बने रहेंगे, तब तक वह इन्हें कैसे भुला सकेंगे। ये तो उनके दिमाग में उनकी पुरानी धारणाओं को पुनः जागृत करते रहेंगे। **अगर लोगों के मन में नई धारणाओं को स्थापित करना है तो उन्हें नया नाम देना भी जरूरी है। पुराने नाम को बनाए रखने का अर्थ किसी भी सुधार को निरर्थक बना देना होगा।** गुण के आधार पर इस चातुर्वर्ण्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अनर्थकारी नामों से रखना जिनमें जन्म के आधार पर सामाजिक विभाजन का संकेत मिलता है। फुसलाने की एक विधि है। समाज के लिए एक फन्दे की तरह है।

(16)

मेरे लिए अपने पुराने नामों के साथ यह चातुर्वर्ण्य पूर्ण रूप से प्रतिकारक है, जिससे मेरा पूरा व्यक्तित्व विद्रोह करता है। लेकिन मैं यह नहीं चाहता कि मैं केवल भावनाओं के आधार पर चातुर्वर्ण्य के प्रति आपत्ति प्रकट करूं। इसको विरोध करने के लिए मेरे पास अधिक ठोस कारण हैं। इस आदर्श की अच्छी जांच-परख के बाद मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि यह चातुर्वर्ण्य सामाजिक संगठन प्रणाली के रूप में अव्यावहारिक, घातक और अत्यंत असफल रहा है। व्यावहारिक दृष्टि से भी चातुर्वर्ण्य से ऐसी अनेक कठिनाइयां उत्पन्न होती है जिन पर इसके समर्थकों ने ध्यान नहीं दिया। जाति का आधारभूत सिद्धांत वर्ण के आधारभूत सिद्धांत से मूल रूप से भिन्न है न केवल मूल रूप से भिन्न है, बल्कि मूल रूप से परस्पर विरोधी है। पहला सिद्धांत गुण पर आधारित है लेकिन अगर कोई व्यक्ति गुणों के आधार पर नहीं बल्कि जन्म के आधार पर ऊंची हैसियत पा जाए तो आप उसे कैसे उस जगह से हटने के लिए बाध्य करेंगे? आप लोगों को इस बात के लिए कैसे बाध्य करेंगे कि वे उस व्यक्ति को जिसकी भले ही जन्म के आधार पर हैसियत निम्न स्तर की रही हो उसे उसके गुण के आधार पर प्रतिष्ठा प्रदान करें। इस उद्देश्य से वर्ण व्यवस्था की स्थापना के लिए आपको अनिवार्यतः पहले जाति को समाप्त करना होगा? लेकिन ऐसा कैसे किया जाए? जन्म के आधार पर बनी चार हजार जातियों को मात्र चार वर्गों में किस तरह परिवर्तित किया जा सकता? चातुर्वर्ण्य के समर्थकों को सबसे पहले इस कठिनाई का समाधान ढूंढना होगा। साथ ही यदि चातुर्वर्ण्य के समर्थक चातुर्वर्ण्य की स्थापना की सफलता चाहते हैं तो उन्हें एक अन्य कठिनाई का भी समाधान ढूंढना होगा।

चातुर्वर्ण्य के सिद्धांत में यह पूर्व कल्पना है कि लोगों को चार निश्चित वर्गों में बांटा जा सकता है। क्या यह संभव है? इस दृष्टि से चातुर्वर्ण्य प्लेटो के आदर्श की तरह ही दिखाई देता है जैसा कि आगे बताया गया है। प्लेटो के अनुसार लोगों को उनकी प्रकृति के अनुसार तीन भागों में रखा गया था। उसका मानना था कि कुछ लोगों का विशिष्ट लक्षण है बहुत भूख लगना। प्लेटो ने उन्हें श्रमिक और कामधंधा करने वालों के वर्ग में रखा। अन्य लोगों को उसने भूख शांत करने में लगे रहने के साथ-साथ बहादुर प्रवृत्ति का भी पाया। इन्हें उसने युद्ध के समय रक्षक वर्ग में और आतंरिक शांति बनाए रखने वालों के वर्ग में रखा। अन्य लोगों में उसने यह देखा कि उनके पास वस्तुओं और तथ्यों के आधारभूत सार्वभौम कारण को समझने की क्षमता थी। ऐसे लोगों को उसने शेष लोगों के लिए कानून बनाने वालों के वर्ग में रखा। लेकिन प्लेटो के उक्त गणराज्य (रिपब्लिक) की जिस बात के लिए आलोचना की जाती है वही आलोचना चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था के संबंध में भी की जा सकती है क्योंकि इसका आधार यह संभावना है कि सभी लोगों को बिल्कुल सही ढंग से चार अलग-अलग वर्ग में रखा जा सकता है प्लेटो के विरूद्ध सबसे बड़ी आलोचना यह थी कि उसका सभी लोगों को तीन बिल्कुल अलग-अलग विशिष्ट वर्गों में निर्जीव व्यक्तियों की तरह डाल देना, मनुष्य और उसकी शक्तियों के प्रति बहुत ही सतही दृष्टिकोण प्रदर्शित करता है।

प्लेटो को इस बात का सम्यक ज्ञान नहीं था कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विशिष्टता होती है, वह शत-प्रतिशत औरों की तरह नहीं होता और प्रत्येक व्यक्ति का अपना वर्ग अलग ही होता है। वह इस तथ्य को पहचान नहीं पाया कि एक ही व्यक्ति की सक्रिय प्रवृत्तियों में अनंत विविधता हो सकती है, या उसमें प्रवृत्तियों के असंख्य संयोग हो सकते हैं। उसके विचार से व्यक्ति के गठन में कई प्रकार की क्षमताएं या शक्तियां होती हैं। उसके कथन की असत्यता स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है। आधुनिक विज्ञान से यह सिद्ध हो गया है कि व्यक्तियों को कुछ एक विशिष्ट वर्गों में निर्जीवों की तरह विभाजित कर देना उनके प्रति बहुत ही सतही दृष्टिकोण को प्रदर्शित करना है। वस्तुतः यह विचार इस योग्य ही नहीं है कि इस पर विशेष ध्यान दिया जाए। व्यक्तियों के गुण या विशेषताएं अति विविध प्रकार की होती हैं। इसलिए जिस कारण से प्लेटो के गणराज्य की कल्पना असफल सिद्ध हुई। उसी कारण चातुर्वर्ण्य भी असफल होगा, अर्थात व्यक्तियों को एक वर्ग या दूसरे वर्ग का मानकर उन्हें अलग-अलग खानों में बांटना संभव नहीं है। लोगों को बिल्कुल सही तौर पर चार निश्चित वर्गों में बांटना इसलिए भी असंभव है कि यह सिद्ध है कि पहले जो चार वर्ग थे वे अब स्वयं चार हजार जातियों में बंट गए हैं।

चातुर्वर्ण्य की स्थापना के मार्ग में एक तीसरी कठिनाई भी है। अगर चातुर्वर्ण्य व्यवस्था स्थगित हो भी जाए तो उसे किस तरह बनाए रखा जाएगा? **चातुर्वर्ण्य की सफलता की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता यह है कि एक दंड पद्धति भी रहे जो दंड-विधान के जरिए इस व्यवस्था को जारी रखे।** चातुर्वर्ण्य को तोड़ने वालों से निपटने की समस्या इसमें लगातार आती रहेगी। अगर इस व्यवस्था को तोड़ने पर दंड का विधान न हो तो लोगों को उनके अपने-अपने वर्ग में बांधे रखना संभव नहीं होगा। पूरी पद्धत्ति छिन्न-भिन्न हो जाएगी क्योंकि यह वर्गीकरण मानव प्रकृति के अनुकुल नहीं है। **चातुर्वर्ण्य अपनी अंतर्निर्हित अच्छाई के आधार पर ही बना नहीं रह सकता। इसे कानून द्वारा ही लागू करना होगा। दांडिक अनुशासन के बिना चातुर्वर्ण्य के विचार को चरितार्थ नहीं किया जा सकता। इसका प्रमाण रामायण की कथा में मिलता है जिसमें राम ने शम्बूक का वध किया था।** कुछ लोग राम को दोषी मानते हैं कि उन्होंने खिलवाड़ स्वरूप या किसी कारण के बिना शम्बूक का वध किया था। परंतु यदि राम पर शम्बुक की हत्या करने का दोष लगाया जाता है, तो संपूर्ण स्थिति को गलत समझना होगा। **रामराज चातुर्वर्ण्य पर आधारित राज था। राजा के रूप में राम चातुर्वर्ण्य को अक्षुण्ण रखने के लिए बाध्य थे अतः शम्बूक की हत्या करना उनका कर्तव्य था क्योंकि शम्बूक शूद्र था और उसने अपने वर्ग का अतिक्रमण किया था तथा वह ब्राह्मण बनना चाहता था। यही कारण है कि राम ने शम्बूक को मार डाला** लेकिन इससे यह प्रकट होता है कि चातुर्वर्ण्य को बनाए रखने के लिए दांडिक अनुशास्ति आवश्यक है। इसके लिए न केवल दांडित अनुशास्ति, बल्कि मृत्यु-दंड भी आवश्यक है। यही कारण है राम ने शम्बूक को मृत्यु दंड से कम दंड नहीं दिया। यही कारण है कि मनुस्मृति में इतना भारी दंडादेश विहित किया गया है कि यदि कोई शूद्र वेद पाठ करता है या वेद पाठ सुन लेता है तो उसकी जिह्वा काट ली जाए या उसके कानों में पिघला हुआ सीसा डाल दिया जाए। चातुर्वर्ण्य के समर्थकों को यह आश्वासन देना होगा कि वे मनुष्यों का वास्तविक वर्गीकरण करेंगे और बीसवीं शताब्दी के आधुनिक समाज को इस बात के लिए प्रेरित करेंगे कि वह मनुस्मृति की दांडिक अनुशास्तियों में संशोधन करें।

ऐसा प्रतीत होता है कि चातुर्वर्ण्य के समर्थकों ने यह नहीं सोचा है कि उनकी इस वर्ण व्यवस्था में स्त्रियों का क्या होगा? क्या उन्हें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों में विभाजित किया जाएगा या उन्हें अपने पतियों का दर्जा प्राप्त कर लेने दिया जाएगा। यदि स्त्री का दर्जा शादी के बाद बदल जाएगा तो चातुर्वर्ण्य के सिद्धांत का क्या होगा अर्थात क्या किसी व्यक्ति का दर्जा उसके गुण पर आधारित होना चाहिए? यदि

उनका वर्गीकरण उनके गुण के आधार पर किया जाता है तो उनका ऐसा वर्गीकरण नाम मात्र का होगा या वास्तविक। यदि वह नाममात्र का है तो बेकार है। इस स्थिति में तो चातुर्वर्ण्य के समर्थकों को यह स्वीकार करना होगा कि उनकी वर्ण-व्यवस्था स्त्रियों पर लागू नहीं होती। यदि यह वास्तविक है तो क्या चातुर्वर्ण्य के समर्थक स्त्रियों पर इस व्यवस्था को लागू करने के तर्कसंगत परिणामों का अनुसरण करने के लिए तैयार है? उन्हें महिला पुरोहित तथा महिला सैनिक रखने के लिए तैयार रहना होगा। हिन्दू समाज महिला शिक्षकों तथा महिला बैरिस्टरों का अभ्यस्त हो गया है। वह महिला शराब निर्माता और महिला कसाईयों के लिए भी अभ्यस्त हो गया है। लेकिन वह एक बहादुर आदमी होगा तो यह कहेगा कि हिन्दू समाज महिला पुरोहितों और महिला सैनिकों के लिए अनुमति देगा। यह स्त्रियों पर चातुर्वर्ण्य लागू करने का तर्कसंगत परिणाम होगा। इन कठिनाइयों के बावजूद मेरा विचार है कि एक जन्मजात मूर्ख को छोड़कर कोई भी व्यक्ति यह आशा और विश्वास नहीं कर सकता कि चातुर्वर्ण्य का फिर से सफल उद्‌भव होगा।

(17)

यह मान भी लिया जाए कि चातुर्वर्ण्य व्यावहारिक है, फिर भी मैं यह निश्चयपूर्वक कहूंगा कि यह एक बहुत ही दोषपूर्ण व्यवस्था है कि ब्राह्मणों द्वारा विद्या का संवर्धन किया जाना चाहिए, क्षत्रिय को अस्त्र-शस्त्र धारण करना चाहिए वैश्य को व्यापार करना चाहिए और शूद्र को ऊपर के तीनों वर्णों की सेवा करनी चाहिए। हालांकि यह एक श्रम विभाजन ही था। क्या इस सिद्धांत का उद्‌देश्य यह था कि शूद्र को धन-संपत्ति आदि अर्जित करने की आवश्यकता नहीं है या यह था कि उसे धन संपत्ति आदि अर्जित करनी ही नहीं चाहिए। यह बहुत ही दिलचस्प प्रश्न है। चातुर्वर्ण्य सिद्धांत के समर्थक इसका पहला अर्थ यह निकालते है कि शूद्र को धन-संपत्ति आदि अर्जित करने का कष्ट क्यों उठाना चाहिए जब कि तीनों वर्ग उसकी सहायता के लिए मौजूद है। शूद्र को शिक्षा प्राप्त करने की परवाह क्यों करनी चाहिए जबकि एक ब्राह्मण मौजूद है। यदि शूद्र को लिखने-पढ़ने की जरूरत होगी तो वह ब्राह्मण के पास जा सकता है। शूद्र को शस्त्र धारण करने की चिंता क्यों करनी चाहिए, जबकि उसकी रक्षा के लिए क्षत्रिय मौजूद है। इस अर्थ में समझे गए चातुर्वर्ण्य सिद्धांत के अनुसार यह कहा जा सकता है कि शूद्र एक आश्रित व्यक्ति है और तीनों वर्ण उसके संरक्षक इस व्याख्या के अनुसार यह एक साधारण, समुन्नतकारी और आकर्षक सिद्धांत है। चातुर्वर्ण्य की संकल्पना पर जोर देने वाले दृष्टिकोण को सही मान लेने पर मुझे यह वर्ण-व्यवस्था न तो स्पष्ट दिखाई देती है और न ही सरल। उस स्थिति में क्या होगा जब ब्राह्मण, वैश्य और क्षत्रिय विद्या प्राप्त करने, व्यापार करने तथा वीर सैनिक बनने के अपने-अपने कर्तव्यों को छोड़ दें?

इसके विपरीत, मान लीजिए कि वे अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं, किंतु शूद्र के प्रति या एक-दूसरे के प्रति अपने कर्तव्यों का उल्लंघन करते हैं तब शूद्र का क्या होगा जब तीनों वर्ण उसकी सहायता न करें या तीनों मिलकर उसको दबाकर रखें। उस स्थिति में शूद्र या वैश्य तथा क्षत्रिय के हितों की रक्षा कौन करेगा जब उसकी अज्ञानता का लाभ उठाने वाला ब्राह्मण हो? शूद्र तथा ऐसे मामले में ब्राह्मण और वैश्य की स्वतंत्रता की रक्षा करने वाला कौन होगा, जब लुटेरा क्षत्रिय हो? एक वर्ण का दूसरे पर निर्भर रहना अनिवार्य है। कभी-कभी एक वर्ण को दूसरे वर्ण पर निर्भर रहने दिया जाता है लेकिन अपनी महत्वपूर्ण आवश्यकताओं की स्थिति में एक व्यक्ति को दूसरे पर निर्भर क्यों बनाया जाए? **शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य है। प्रत्येक व्यक्ति के पास अपनी सुरक्षा के साधन होना अनिवार्य है, प्रत्येक व्यक्ति की आत्म रक्षा के लिए ये सर्वोत्तम आवश्यकताएं हैं।** किसी अशिक्षित और निशस्त्र व्यक्ति को इस बात से क्या सहायता मिल सकती है कि उसका पड़ोसी शिक्षित और सशस्त्र है। अतः यह संपूर्ण सिद्धांत मूर्खतापूर्ण है। ये ऐसे प्रश्न हैं जिनसे चातुर्वर्ण्य के समर्थक चिंतित प्रतीत नहीं होते। लेकिन ये अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। यदि चातुर्वर्ण्य के समर्थकों की इस संकल्पना को मान लिया जाए कि विभिन्न वर्णों के बीच आश्रित और सरंक्षक का जो संबंध है, चातुर्वर्ण्य की वही वास्तविक संकल्पना है तो यह स्वीकार करना होगा कि इसमें सरंक्षक के दुष्कर्मों से आश्रित के हितों की रक्षा के लिए कोई व्यवस्था नहीं की गई है। सरंक्षक और आश्रित का संबंध भले ही ऐसी वास्तविक संकल्पना हो, जिस पर चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था आधारित थी लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं है कि व्यवहार में यह संबंध वस्तुतः मालिक और नौकर का था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के आपसी संबंध भी संतोषजनक नहीं थे, फिर भी वे मिलकर कार्य करने में सफल हुए। **ब्राह्मण** ने **क्षत्रिय** की खुशामद की आरै दोनों ने **वैश्य** को जीवित रहने दिया ताकि वे उसके सहारे जीवित रह सकें लेकिन **तीनों शूद्र को पद-दलित करने के लिए सहमत हो गए। उसे धन-संपत्ति अर्जित करने की अनुमति नहीं दी गई क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि वह तीनों वर्णों पर निर्भर ही न रहे। उसे विद्या प्राप्त करने से रोका गया कि कहीं ऐसा न हो कि वह अपने हितों के प्रति सजग हो जाए। उसके लिए शस्त्र धारण करना निषिद्ध था कि कहीं ऐसा न हो कि वह उनकी सत्ता के विरूद्ध विद्रोह करने के लिए साधन प्राप्त कर ले।** तीनों वर्ण शूद्रों के प्रति ऐसा ही व्यवहार करते थे इसका प्रमाण मनु के कानून में मिलता है।

सामाजिक अधिकारों के संबंध में मनु के कानून (मनुस्मृति) से ज्यादा बदनाम आरै कोई विधि संहिता नहीं है। **सामाजिक अन्याय के संबंध में कहीं से भी लिया**

गया कोई भी उदाहरण मनु कानून के समक्ष फीका पड़ जाता है। अधिकांश जनता ने इन सामाजिक बुराईयों को क्यों सहन किया? विश्व के अन्य देशों में सामाजिक क्रांतियां होती रही हैं। भारत में सामाजिक क्रांतियां क्यों नहीं हुई, यह एक ऐसा प्रश्न है जो मुझे सदैव कष्ट देता रहा है। मैं इसका केवल एक ही उत्तर दे सकता हूं और वह यह है कि **चातुर्वर्ण्य की इस अधम व्यवस्था के कारण हिन्दुओं के निम्न वर्ण सीधी कार्रवाई करने में पूर्णतः अशक्त बन गए हैं। वे हथियार धारण नहीं कर सकते और हथियारों के बिना वे विद्रोह नहीं कर सकते थे। वे सभी हलवाहे थे या हलवाहे बना दिए गए थे और उन्हें फालों (हल की धार) को तलवारों में बदलने की कभी भी अनुमति नहीं दी गई।** उनके पास संगीने नहीं थी इसलिए कोई भी व्यक्ति उन पर प्रभुत्व जमा लेता। चातुर्वर्ण्य के कारण वे शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके। वे अपनी मुक्ति का मार्ग नहीं सोच सके या ज्ञात नहीं कर सके। उन्हें सदैव दबाकर रखा गया। उन्हें अपने छुटकारें का न तो रास्ता ही मालूम था और न ही उनके पास साधन थे, उन्होंने अंततः दासता से समझौता कर लिया और ऐसी नियति पर संतोष कर लिया जिससे उन्हें कभी भी छुटकारा नहीं मिल सकता था। यह ठीक है कि यूरोप में भी शक्तिशाली व्यक्ति कमजोर व्यक्ति का शोषण करने में पीछे नहीं रहा। लेकिन वहां इतने शर्मनाक ढंग से कमजोर व्यक्ति का शोषण नहीं किया गया जितना कि भारत में हिन्दुओं ने किया था। यूरोप में शक्तिशाली और कमजोर के बीच भारत की अपेक्षा अधिक हिंसात्मक रूप में संग्राम चलता रहा। फिर भी यूरोप में कमजोर व्यक्ति को सेना में अपने **शारीरिक शस्त्र, दुख-दर्द में राजनीतिक शस्त्र और शिक्षा में नैतिक शस्त्र का प्रयोग करने की स्वतंत्रता प्राप्त थी।** यूरोप में शक्तिशाली व्यक्ति ने स्वतंत्रता के उक्त तीन हथियारों को कमजोर व्यक्ति से कभी नहीं छीना। लेकिन भारत में चातुर्वर्ण्य के अनुसार जन-समुदाय को उक्त तीनों शस्त्र धारण करने से वंचित किया गया था। चातुर्वर्ण्य से बढ़कर सामाजिक संगठन की और कोई अपमानजनक पद्धत्ति नहीं हो सकती। चातुर्वर्ण्य वह व्यवस्था है जिसने लोगों को अपनी मुक्ति हेतु सहायक गतिविधियों के लिए उनकी अपनी शक्ति कम कर दी, उन्हें शक्तिहीन एवं पंगु बना दिया यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है। इतिहास में इसका यथेष्ट प्रमाण मिलता है। **भारतीय इतिहास में केवल एक काल ऐसा है जिसे स्वतंत्रता, महानता और कीर्ति का गौरवपूर्ण युग कहा जाता है। वह युग है मौर्य साम्राज्य, बाकी सभी समय देश में पराभव और अंधकार छाया रहा है, लेकिन मौर्य काल में चातुर्वर्ण्य को जड़ मूल से समाप्त कर दिया गया था। मौर्य-युग में शूद्र जिनकी संख्या काफी थी अपने असली रूप में आए और देश के शासक बन**

गए। भारतीय इतिहास में पराभव और अंधकार का युग वह था जब घृणित चातुर्वर्ण्य देश के अधिकांश भाग में अभिशाप बनकर फैल गया।

(18)

चातुर्वर्ण्य नया नहीं है। यह उतना ही प्राचीन है जितने कि वेद। इसीलिए आर्यसमाजियों ने हमसे अनुरोध किया है कि उनके दावों पर विचार किया जाए। यदि चातुर्वर्ण्य पर सामाजिक संगठन के रूप में भूतकाल से विचार किया जाए तो पता चलेगा कि इसकी आजमाइश की गई है और यह असफल रहा है। कितनी बार ब्राह्मणों ने क्षत्रियों का बीज मिटाया है? कितनी बार क्षत्रियों ने ब्राह्मणों का नाश किया है? महाभारत और पुराण ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच हुए संघर्षों से भरे पड़े हैं। यहां तक कि वे ऐसे तुच्छ मामलों में झगड़ बैठे थे कि पहले प्रणाम कौन करेगा? जब ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों एक ही गली में मिलें पहले रास्ता कौन देगा ब्राह्मण या क्षत्रिय। केवल ब्राह्मण क्षत्रिय या क्षत्रिय ब्राह्मण की आंखों का कांटा नहीं था बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि क्षत्रिय अत्याचारी बन गए थे और जनता चूंकि वह चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अधीन निहत्थी थी, अतः उनके अत्याचार से छूटकारा पाने के लिए ईश्वर से प्रार्थना कर रही थी। **भागवत में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कृष्ण के अवतार लेने का केवल एक ही पवित्र उद्देश्य था और वह था क्षत्रियों का विध्वंस करना।** जब विभिन्न वर्णों के बीच प्रतिद्वंदिता और शत्रुता के इतने सारे उदाहरण मौजूद हैं तब मैं यह नहीं समझता कि कोई व्यक्ति चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को ऐसे प्राप्त आदर्श या प्रतिमान के रूप में कैसे मान सकता है जिसके आधार पर हिन्दू समाज की पुनः रचना की जाए।

(19)

मैंने उन लोगों के बारे में विचार किया है जो आपके साथ नहीं हैं और जिनका आपके विचारों से खुला विरोध है। अन्य लोग भी है जो ऐसे हैं जिनके साथ आप नहीं है या जो आपके साथ नहीं है। मैं यह संकोच कर रहा था कि क्या उनके दृष्टिकोण पर विचार किया जाए। लेकिन आगे और विचार करने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि मुझे उनके दृष्टिकोण पर विचार करना होगा। इसके दो कारण है। पहला जाति संबंधी समस्या के प्रति उनका रूख मात्र एक तटस्थता वाला रूख नहीं है बल्कि सशस्त्र तटस्थता वाला रूख है। दूसरा, शायद उनकी संख्या भी पर्याप्त है। इनमें एक वर्ग ऐसा है जिसे हिन्दुओं की जाति व्यवस्था में कोई विचित्र या निदंनीय चीज नहीं मिली है। ऐसे हिन्दू, मुस्लिमों, सिखों तथा ईसाईयों का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं और इस बात से संतुष्ट हो जाते है कि उनमें भी जातियां हैं। ऐसे प्रश्न पर विचार करते समय प्रारंभ में ही यह

ध्यान रखना होगा कि मानव समाज कहीं भी एक संपूर्ण इकाई नहीं है। समाज सदैव बहु इकाई वाला रहा है। इस क्रियाशील विश्व में एक सीमा व्यक्ति है तो दूसरी सीमा समाज। इन दोनों के बीच छोटी-बड़ी समस्त सहचारी व्यवस्थाएं, परिवार, मित्रता, सहकारी संस्थाएं, व्यापार प्रतिष्ठान, राजनीतिक दल, चोर और लुटेरों के गिरोह विद्यमान है। छोटे वर्ग आमतौर पर एक-दूसरे से मजबूती से जुड़े होते हैं और प्रायः जातियों जैसे होते हैं। उनकी संहिता संकीर्ण तथा भाव प्रवण होती है जिसे प्रायः समाज-विरोधी कहा जा सकता है। यह बात यूरोप तथा एशिया के प्रत्येक समाज पर लागू होती है। यह निर्धारित करते समय कि क्या संबंधित समाज एक आदर्श समाज है, यह प्रश्न पूछा जा सकता है। क्या वह आदर्श समाज इसलिए नहीं है क्योंकि इसमें वर्ग है लेकिन वर्ग तो सभी समाजों में होते हैं। यह निर्धारित करते समय कि आदर्श समाज कौन सा है ये प्रश्न पूछे जा सकते हैं। ऐसे हितों की संख्या कितनी है और वे कितने प्रकार के है जो वर्गों से संबंधित हैं? अन्य समाजों के साथ उसका व्यवहार कितना पूर्ण एवं स्वतंत्र है? क्या वर्गों और जातियों को पृथक करने वाली शक्तियों की संख्या उन शक्तियों की संख्या से अधिक है जो उनको जोड़ती है? वर्ग जीवन को क्या सामाजिक महत्व दिया गया है? क्या उसकी अनन्यता, रीति-रिवाज और सुविधा को सामाजिक महत्व दिया गया है? या यह धर्म का मामला है। इन प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए किसी व्यक्ति को यह निर्णय लेना होगा कि क्या गैर-हिन्दुओं में वैसी ही जाति-व्यवस्था है जैसी कि हिन्दुओं में है। यदि हम इन विचारों को एक ओर मुसलमानों, सिखों और ईसाइयों की जातियों और दूसरी ओर हिन्दुओं की जातियों पर लागू करे तो यह पता चलेगा कि गैर हिन्दुओं की जाति व्यवस्था हिन्दुओं की जाति व्यवस्था से मूलतः भिन्न है। इसके कई कारण है। **पहला ऐसा कोई बंधन नहीं है, जो हिन्दुओं को एकता के सूत्र में बांधता हो, जब कि गैर-हिन्दुओं में ऐसे अनेक बंधन है जो उन्हें एकता के सूत्र में बांधते हैं। किसी समाज की शक्ति उसके संपर्क स्थलों तथा उसके विभिन्न वर्गों के बीच अतंरक्रिया की संभावनाओं पर निर्भर है।** कार्लाइल ने इन्हें 'सुव्यवस्थित तंतु' (आर्गेनिक) अर्थात लचीले तंतु कहा है जो विखंडित तत्वों को जोड़ने और उनमें पुनः एकता स्थापित करने में मदद करते है। हिन्दुओं में ऐसी कोई संघटनकारी शक्ति नहीं है जो जातिप्रथा द्वारा किए गए विखंडन को समाप्त कर सके। लेकिन गैर हिन्दुओं में ऐसे अनेक 'सुव्यवस्थित तंतु' है जो उन्हें एकता के सूत्र में बांधते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना होगा कि हालांकि गैर-हिंदुओं में भी वैसी ही जातियां हैं जैसी कि हिंदुओं में हैं लेकिन उनका गैर हिंदुओं के लिए सामाजिक महत्व उतना नहीं है जितना कि हिन्दुओं के लिए है। किसी मुसलमान या सिख से पूछिए कि वह कौन है तो वह यही कहेगा कि वह मुसलमान या सिख है। वह अपनी

जाति नहीं बताएगा। हालांकि उसकी जाति है। आप उसके इस उत्तर से संतुष्ट हो जाएंगे। जब वह यह बताता है कि वह मुसलमान है तो उससे आगे यह नहीं पूछते कि वह शिया या सुन्नी, शेख है या सैयद, खटीक है या पिंजारी। जब वह यह कहता है कि मैं सिख हूं तो आप उससे यह नहीं पूछते की वह जाट है या रोड, मजहबी है या रामदासी। **लेकिन आप इस बात से उस स्थिति में संतुष्ट नहीं होते जब कोई अपने को हिन्दू बताता है। आप उसकी जाति अवश्य पूछेंगे। इसका कारण यह है कि हिन्दू के विषय में जाति का इतना महत्व है कि उसके जाने बिना आप यह निश्चित नहीं कर सकते कि वह किस तरह का व्यक्ति है।** गैर-हिंदुओं में जाति का उतना महत्व नहीं है जितना कि हिंदुओं में है। यह बात उस स्थिति में स्पष्ट हो जाती है जब आप जाति व्यवस्था भंग करने के परिणामों पर विचार करते हैं। सिखों और मुसलमानों में भी जातियां हो सकती हैं लेकिन वे उस सिख और मुसलमान का जाति-बहिष्कार नहीं करेगे जो अपनी जाति तोड़ता है। वास्तव में सिख और मुसलमान जाति-बहिष्कार के विचार से परिचित नहीं हैं लेकिन हिंदुओं के विषय में यह बात एकदम भिन्न है। **हिन्दू को यह निश्चित रूप से पता होता है कि यदि वह जाति का बंधन तोड़ेगा तो उसे जाति से निकाल दिया जाएगा।** इससे यह प्रकट होता है कि हिंदुओं और गैर-हिंदुओं के लिए जाति के सामाजिक महत्व में कितना अंतर है। यह उनके बीच अंतर का दूसरा संकेत है। तीसरा संकेत भी है जो और अधिक महत्वपूर्ण है। गैर-हिंदुओं में जाति की कोई धार्मिक पवित्रता नहीं होती लेकिन हिंदुओं में तो निश्चित रूप से होती है। गैर-हिंदुओं में जाति मात्र एक व्यवहार है न कि एक पवित्र प्रथा। उन्होंने जाति की उत्पत्ति नहीं की। उनके मामले में तो जाति का मात्र अस्तित्व बना हुआ है। वे जाति को धार्मिक सिद्धांत नहीं मानते। **हिन्दू धर्म हिन्दुओं को जातियों के पृथक्करण और अलगाव को एक सद्गुण मानने के लिए बाध्य करता है** लेकिन हिन्दू धर्म गैर-हिन्दुओं को जाति के प्रति ऐसा रूख अपनाने के लिए बाध्य नहीं करता है। यदि हिन्दू लोग जाति को समाप्त करना चाहें तो उनका धर्म आड़े आएगा लेकिन गैर-हिंदुओं के विषय में यह बात लागू नहीं होती। अतः गैर-हिन्दुओं में जाति के मात्र अस्तित्व से संतुष्ट होना तब तक एक खतरनाक भ्रम साबित होगा जब तक यह जानकारी प्राप्त न कर ली जाए कि उनके जीवन में जाति का क्या महत्व है और क्या कोई अन्य ऐसे 'सुव्यवस्थित तंतु' है जो सामाजिक भावना को उनकी जाति-भावना से ऊपर ले आते हैं। हिन्दुओं का भ्रम जितना शीघ्र दूर हो उतना ही अच्छा है।

हिन्दुओं का एक अन्य वर्ग इस बात से इंकार करता है कि हिन्दुओं के लिए जातिप्रथा से कोई समस्या उत्पन्न होती है। ऐसे हिन्दू इस दृष्टिकोण में संतोष व्यक्त करते

हैं कि हिन्दू जाति जीवित रही है और वे इसे जीवित रहने की उपयुक्तता का प्रमाण मानते हैं। प्रो. एस. राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू व्यू ऑफ लाईफ' में इस दृष्टिकोण की अच्छी व्याख्या की है। हिन्दू धर्म का संदर्भ देते हुए वे कहते है हिन्दू सभ्यता कोई अल्पकालिक वस्तु नहीं रही है। इसका इतिहास चार हजार वर्ष से भी पुराना है फिर भी वह एक ऐसी सभ्यता बन गई है जिसकी अविछिन्न धारा आज तक प्रवाहित है, यद्यपि कभी-कभी इसकी गति मंद और स्थिर भी रही है। इसने चार या पांच सहस्त्राब्दियों से भी अधिक समय से अध्यात्मिक विचार धारा एवं अनुभवों से प्रभावित होकर भी इसका मूलतत्व अक्षुण्ण रखा है। यद्यपि इतिहास के आदिकाल से भिन्न-भिन्न जातियों एवं संस्कृतियों के लोग भारत में आते रहे हैं, फिर भी हिन्दू धर्म ने अपनी सर्वोच्चता अक्षुण्णता कायम रखी है। यहां तक कि राजनीतिक शक्ति द्वारा संपोषित धर्म परिवर्तनकारी जातियां भी अधिसंख्य हिन्दुओं को अपने विचार मनवा लेने के लिए बाध्य नहीं कर पाई हैं। हिन्दू संस्कृति में कुछ ऐसी जीवन शक्ति है जो अन्य शक्तिशाली धाराओं में नहीं मिल सकती। यह देखने के लिए हिन्दू धर्म के वृक्ष को काटना आवश्यक नहीं है कि क्या उसमें आज भी रस निकल रहा है। इस विषय में तो प्रो. राधाकृष्णन का नाम ही काफी है कि वे जो कुछ कहते हैं उसमें गंभीरता होती है और पाठकों को प्रभावित करते हैं। पर मुझे अपना विचार प्रकट करने में संकोच नहीं करना चाहिए क्योंकि मुझे इस बात की आशंका है कि कहीं उनका कथन इस गलत तर्क का आधार न बन जाए कि अस्तित्व जीवित रहने की उपयुक्तता का प्रमाण है। **मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सवाल यह नहीं है कि कोई समुदाय जीवित रहता है या समाप्त हो जाता है बल्कि यह है कि वह कैसे जीवित रहता है? जीवित रहने के विभिन्न प्रकार हैं। लेकिन वे सबके सब सम्मानजनक नहीं हैं। किसी व्यक्ति और समाज के लिए मात्र जीवनयापन करने और सम्मानपूर्वक जीवनयापन करने में गहरा अंतर है।** यद्धु में लड़ना और गौरवपूर्ण जीवन व्यतीत करना, जीवित रहने का एक प्रकार है। पराजित होना, आत्म-समर्पण करना और एक बंदी के रूप में जीवन व्यतीत करना भी अस्तित्व का एक प्रकार है। किसी हिन्दू के लिए इस बात से संतुष्ट होना व्यर्थ है कि वह और अन्य जीवित रहे हैं। मुझे यह सोचना होगा कि उसके जीवन की गुणवत्ता क्या है। यदि वह ऐसा सोचेगा तो मुझे विश्वास है वह मात्र अस्तित्व का दंभ छोड़ देगा। **हिन्दू के जीवन में सतत् पराजय ही रही है।** उसे जो यह प्रतीत होता है कि उसका जीवन तो सतत् प्रवाहमान रहा है वह सतत् प्रवाहमान नहीं रहा है बल्कि वस्तुत: वह ऐसा जीवन रहा है जिसका सतत ह्वास होता रहा है, जिससे किसी भी ठीक दिमाग वाले और सत्य से न डरने वाले हिंदू को शर्मिन्दगी होगी।

(20)

मेरी राय में इसमें कोई संदेह नहीं है कि **जब तक आप अपनी सामाजिक व्यवस्था नहीं बदलेंगे, तब तक कोई प्रगति नहीं होगी।** आप समाज को रक्षा या अपराध के लिए प्रेरित नहीं कर सकते हैं। आप राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकते, आप नैतिकता का निर्माण नहीं कर सकते। **जाति की नींव पर आप कोई भी निर्माण करेंगे वह चटक जाएगा और कभी भी पूरा नहीं होगा।**

अब केवल एक प्रश्न रहता है जिस पर विचार करना है। वह यह है कि **हिंदू सामाजिक व्यवस्था में सुधार कैसे किया जाए? जाति को कैसे समाप्त किया जाए?** यह प्रश्न अत्यतं महत्वपूर्ण है। ऐसा विचार व्यक्त किया गया है कि जाति व्यवस्था में सुधार करने के लिए **पहला कदम यह होना चाहिए कि उपजातियों को समाप्त किया जाए।** यह विचार इस अवधारणा पर आधारित है कि जातियों के बीच तौर–तरीकों और स्तर की अपेक्षा उपजातियों के तौर–तरीकों तथा स्तर में अधिक समानता है। मेरे विचार से यह एक गलत तर्क है। डकन तथा दक्षिण भारत के ब्राह्मणों की तुलना में उत्तर तथा मध्य भारत के ब्राह्मण सामाजिक रूप से निम्न श्रेणी के हैं। उत्तर तथा मध्य प्रांत के ब्राह्मण केवल रसोइया और पानी पिलाने वाले हैं, जबकि डकन और दक्षिण भारत के ब्राह्मणों का सामाजिक स्तर बहुत ऊंचा है। दूसरी ओर, उत्तरी भारत के वैश्य और कायस्थ बौद्धिक एवं सामाजिक रूप से डकन और दक्षिण भारत के ब्राह्मणों के समकक्ष होते हैं। इसके अतिरिक्त आहार के मामले में भी डकन और दक्षिण भारत के ब्राह्मणों में तथा कश्मीर और बंगाल के ब्राह्मणों में कोई समानता नहीं है। **दक्षिण के ब्राह्मण शाकाहारी होते है, जबकि कश्मीर और बंगाल के ब्राह्मण मांसाहारी।** जहां तक आहार का संबंध है डकन और दक्षिण भारत के ब्राह्मणों और ब्राह्मणेत्तर गुजराती, मारवाडी, बनिया और जैन जैसी जातियों में काफी समानता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि एक से दूसरी जाति में संक्रमण को आसान बनाने के लिए उत्तरी भारत के कायस्थों और दक्षिण भारत की अन्य ब्राह्मणेत्तर जातियों को डकन तथा द्रविड प्रदेश की ब्राह्मणेत्तर जातियों में मिला देना दक्षिण भारत के ब्राह्मणों को उत्तर भारत के ब्राह्मण में मिला देने के अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक होगा लेकिन यदि यह मान लिया जाए कि उपजातियों का विलय संभव है तो इस बात की क्या गारंटी है कि उपजातियों के समाप्त होने के परिणामस्वरूप जातियां निश्चित रूप से समाप्त हो जाएंगी। इस स्थिति में **उपजातियों के समाप्त होने से जातियों की जड़ें और मजबूत हो जाएंगी और वे शक्तिशाली बन जाएंगी। परिणामस्वरूप वे अधिक हानिकर सिद्ध होंगी। अतः यह उपाय न तो व्यवहार्य है और न ही कारगर।** यह उपाय निश्चित रूप से गलत सिद्ध होगा। जाति को समाप्त करने

की एक और कार्ययोजना है कि **अंतर्जातीय खान-पान का आयोजन किया जाए। मेरी राय में यह उपाय भी पर्याप्त नहीं है।** ऐसी अनके जातियां है जो अंर्तजातीय खान-पान की अनुमति देती है। इस विषय में सामान्य अनुभव यह रहा है कि अंर्तजातीय खान-पान की व्यवस्था जाति-भावना या जाति-बोध को समाप्त करने में सफल नहीं हो पाई है। **मुझे पूरा विश्वास है कि इसका वास्तविक उपचार अंतर्जातीय विवाह ही है। केवल खून के मिलने ही रिश्ते की भावना पैदा होगी और जब तक सजातीयता की भावना को सर्वोच्च स्थान नहीं दिया जाता तब तक जाति व्यवस्था द्वारा उत्पन्न की गई पृथकता की भावना अर्थात पराएपन की भावना समाप्त नहीं होगी। हिन्दुओं में अंतर्जातीय विवाह सामाजिक जीवन में निश्चित रूप से महान शक्ति का एक कारक सिद्ध होगा।** गैर-हिन्दुओं में इसकी इतनी आवश्यकता नहीं है, जहां समाज संबंधों के ताने-बाने से सुगठित है। वहां विवाह जीवन की एक साधारण घटना होगी। लेकिन जहां समाज छिन्न-भिन्न है वहां बाध्यकारी शक्ति के रूप में विवाह की परम आवश्यकता होती है। **अतः जाति को समाप्त करने का वास्तविक उपाय अंतर्जातीय विवाह ही है। जाति समाप्त करने के लिए जाति विलय जेसै उपाय को छोड़कर और कोई उपाय कारगर सिद्ध नहीं होगा।** आपके जातिपांत तोडक मंडल ने आक्रमण की यही नीति अपना रखी है। यह सीधा और सामने का आक्रमण है मैं आपके सही निदान और हिन्दुओं से यह कहने का साहस दिखाने के लिए आपको बधाई देता हूं कि वास्तव में उनमें (हिन्दुओं में) क्या दोष हैं। **सामाजिक अत्याचार के मुकाबले राजनीतिक अत्याचार कुछ भी नहीं है और वह सुधारक जो समाज का विरोध करता है उस राजनीतिज्ञ से अधिक साहसी होता है जो सरकार का विरोध करता है।** आपका यह कहना सही है कि जाति उसी स्थिति में समाप्त होगी जब अंतर्जातीय खान-पान एवं अंतर्जातीय विवाह सामान्य व्यवहार में आ जाएं। आपने बीमारी की जड़ का पता लगा लिया है लेकिन क्या बीमारी के लिए आपका नुस्खा ठीक है? यह प्रश्न आप अपने से पूछिए। अधिसंख्य हिन्दू अंतर्जातीय खान-पान एवं अंतर्जातीय विवाह का संबंध क्यों नहीं करते? आपका उद्देश्य लोकप्रिय क्यों नहीं है? उसका केवल एक ही उत्तर है और वह है कि अंतर्जातीय खान-पान एवं अंतर्जातीय विवाह का संबंध उन आस्थाओं और धर्म-सिद्धांतों के प्रतिकूल है जिन्हें हिन्दू पवित्र मानते हैं। जाति ईटों की दीवार या कांटेदार तारों की लाईन जैसी कोई भौतिक वस्तु नहीं हैं जो हिन्दुओं को मेल-मिलाप से रोकती हो और जिसे तोड़ना आवश्यक हो। **जाति तो एक धारणा है और यह एक मानसिक स्थिति है। अतः जाति व्यवस्था को नष्ट करने का अर्थ भौतिक रुकावटों को दूर करना नहीं है। इसका अर्थ विचारात्मक परिवर्तन से है।**

जाति व्यवस्था बुरी हो सकती है। जाति के आधार पर ऐसा घटिया आचरण किया जा सकता है जिसे मानवों की मानव के प्रति अमानुषिकता कहा जा सकता है। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि हिन्दू समुदाय द्वारा जाति को मानने का कारण यह नहीं है कि उनका व्यवहार अमानुषिक और अन्यायपूर्ण है वे जाति को इसलिए मानते हैं क्योंकि वे नितांत धार्मिक हैं, जातिपात मानने में वे लोग दोषी नहीं है। मेरी राय में उनका धर्म दोषी है जिसके कारण जाति की धारणा का जन्म हुआ है। यदि यह बात सही है तो यह स्पष्ट है कि **वह शत्रु जिसके साथ आपको संघर्ष करना है वे लोग नहीं है जो जाति को मानते हैं, बल्कि वे शास्त्र हैं जिन्होंने जाति की शिक्षा दी है।** रोटी-बेटी का संबंध न करने या समय-समय पर अंतर्जातीय खान-पान और अंतर्जातीय विवाहों का आयोजन न करने के लिए लोगों की आलोचना या उनका उपहास करना वांछित उद्देश्य को प्राप्त करने का एक निरर्थक तरीका है। **वास्तविक उपचार यह है कि शास्त्रों से लोगों के विश्वास को समाप्त किया जाए।** यदि शास्त्रों ने लोगों के धार्मिक, विश्वास और विचारों को ढालना जारी रखा तो आप कैसे सफल होंगे? शास्त्रों की सत्ता का विरोध किए बिना लोगों को उनकी पवित्रता और दंड विधान में विश्वास करने के लिए अनुमति देना और फिर उनके अविवेकी और अमानवीय कार्यों के लिए उन्हें दोष लगाना और उनकी आलोचना करना सामाजिक सुधार करने का अनुपयुक्त तरीका है। ऐसा प्रतीत होता है कि मिस्टर गांधी समेत अस्पृश्यता को समाप्त करने वाले समाज सुधारक यह महसूस नहीं करते हैं कि **लोगों के कार्य मात्र उन धार्मिक विश्वासों के परिणाम हैं जो शास्त्रों द्वारा उनके मन में पैदा कर दिए गए हैं। लोग तब तक अपने आचरण में परिवर्तन नहीं करेंगे जब तक वे शास्त्रों की पवित्रता में विश्वास करना नहीं छोड़ देते जिस पर उनका आचरण आधारित है।** इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि ऐसे प्रयासों का कोई सकारात्मक परिणाम न निकले। आप भी वही गलती कर रहे हैं जो अस्पृश्यता को समाप्त करने के उद्देश्य से काम करने वाले समाज सुधारक कर रहे हैं। अंतर्जातीय खान-पान एवं अंतर्जातीय विवाह के लिए आंदोलन करना और उनका आयोजन करना कृत्रिम साधनों से किए जाने वाले बलात् भोजन कराने के समान है। **प्रत्येक पुरुष और स्त्री को शास्त्रों की गुलामी से मुक्त कराइए, शास्त्रों द्वारा प्रतिष्ठापित हानिकर धारणाओं से उनके मस्तिष्क को शुद्ध करिए, फिर देखिए वह आपके कहे बिना अपने आप अंतर्जातीय खान-पान तथा अंतर्जातीय विवाह का आयोजन करेगा/करेगी।**

वाक्छल करने से कोई लाभ नहीं है। लोगों से यह कहने से कोई लाभ नहीं है कि शास्त्रों में वैसा नहीं कहा गया है जैसा कि वे विश्वास करते है, व्याकरण की दृष्टि

से पढ़ते हैं या तर्किक ढंग से उनकी व्याख्या करते हैं, यह कोई बात नहीं है कि लोग शास्त्रों का ज्ञान किस प्रकार से ग्रहण करते हैं। आपको ऐसा दृष्टिकोण अपनाना चाहिए, जैसा कि बुद्ध ने किया था। आपको वह मोर्चा लेना होगा जो गुरू नानक ने लिया था। **आपको शास्त्रों को केवल छोड़ना ही नहीं चाहिए बल्कि अनिवार्य रूप से उनकी सत्ता को स्वीकार करने से इंकार करना होगा जैसा कि बुद्ध और नानक ने किया था। आपको हिन्दुओं से यह कहने का साहस रखना चाहिए कि दोष उनके धर्म का है वह धर्म जिसने आपमें जाति की पवित्रता की धारणा पैदा की है, क्या आप ऐसा साहस दिखाएंगे?**

(21)

आपको सफलता मिलने के अवसर क्या हैं? सुधार की विभिन्न किस्में हैं। एक किस्म वह है जो लोगों की धार्मिक धारणा से संबंधित नहीं है लेकिन उसका स्वरूप विशुद्ध रूप से धर्म निरपेक्षता वाला है। सुधार की दूसरी किस्म का संबंध लोगों की धार्मिक भावना से है। सामाजिक सुधारों की इन किस्मों के दो प्रकार हैं। एक में सुधार धर्म के सिद्धांतों के अनुरूप होता है और उन लोगों से जो इन सिद्धांतों से विचलित हो गए हैं, यह कहा जाता है कि वे उनको फिर से स्वीकार कर लें और उनका पालन करें। दूसरे प्रकार के सुधार में न केवल धार्मिक सिद्धांतों में हस्तक्षेप किया जाता है बल्कि उनका पूर्ण रूप से विरोध किया जाता है और लोगों से यह कहा जाता है कि वे इन सिद्धांतों का पालन न करें और उनकी सत्ता की अवज्ञा करें। जाति व्यवस्था ऐसे कुछ धार्मिक विश्वासों का स्वाभाविक परिणाम है जो शास्त्र सम्मत है। शास्त्रों के बारे में यह विश्वास किया जाता है कि इनमें ईश्वर द्वारा प्रेरित उन ऋषियों के आदेश निहित हैं जो अलौकिक प्रज्ञा से सम्पन्न थे। अतः ऋषियों की आज्ञाओं का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। यदि उल्लंघन किया जाएगा तो पाप लगेगा। सुधार का एक और प्रकार है वह है जाति को नष्ट करना। यह सुधार तीसरे वर्ग के अंतर्गत आता है। लोगों से जाति को त्यागने के लिए कहने का अर्थ उनको मूल धार्मिक धारणाओं के विपरीत चलने के लिए कहना है यह स्पष्ट है कि सुधार का पहला और दूसरा मार्ग सरल है लेकिन तीसरे मार्ग के सुधार में अत्याधिक कार्य करना होगा जो प्रायः असंभव सा है। हिन्दु सामाजिक व्यवस्था को पवित्र मानते है। जाति का आधार ईश्वरीय है। **अतः आपको अनिवार्य रूप से उस पवित्रता और देवत्व को नष्ट करना होगा जो जाति में समाया हुआ है। अंतिम विश्लेषण के रूप में इसका अर्थ यह है कि आपको अनिवार्य रूप से शास्त्रों और वेदों की सत्ता को समाप्त करना होगा।**

मैंने जाति को समाप्त करने के उपाय और साधनों से संबंधित प्रश्न पर जोर इसलिए दिया है क्योंकि मेरे लिए आदर्श से अवगत होने की अपेक्षा उचित उपायों और साधनों की जानकारी प्राप्त कर लेना अधिक महत्वपूर्ण है। **यदि आपको अनिवार्य रूप से वास्तविक उपाय और साधनों की जानकारी नहीं है तो आपके सभी निशाने निश्चित ही लक्ष्यहीन होंगे।** यदि मेरा विश्लेषण सही है तो आपका कार्य भी असाधारण बल का कार्य होगा। केवल आप ही यह कह सकते है कि क्या आप इस कार्य को पूर्ण करने में समर्थ होंगे।

मेरे विचार से यह कार्य प्राय: असंभव है। शायद आप यह जानना चाहेंगे कि मैं ऐसा क्यों सोचता हूं। जिन कारणों से मैंने यह दृष्टिकोण अपनाया है उनमें से ऐसे कुछ कारणों का उल्लेख करूंगा जिन्हें मैं अत्यंत महत्वपूर्ण समझता हूं। उन कारणों में से एक है ब्राह्मणों का शत्रुतापूर्ण नजरिया जो उन्होंने इस समस्या के प्रति किया है ब्राह्मण राजनीतिक तथा आर्थिक सुधार के मामलों में आंदोलन में सदैव अग्रसर रहते हैं लेकिन जाति के बंधन तोड़ने के लिए बनाई गई सेना में वे शिविर अनुयायी (कैम्प फलोअर्स) के रूप में भी नहीं पाए जाते। क्या ऐसी आशा की जा सकती है कि भविष्य में इस मामले में ब्राह्मण लोग नेतृत्व करेंगे? मैं कहता हूं नहीं। आप पूछ सकते हैं क्यों? आप दलील दे सकते हैं कि इसका कोई कारण नहीं है कि ब्राह्मणों को सामाजिक सुधार से क्यों दूर रहना चाहिए। आप तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं कि ब्राह्मण यह जानते हैं कि जाति हिन्दू समाज का विष है और एक प्रबुद्ध वर्ग के रूप में उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे इसके परिणाम के प्रति उदासीन रहेंगे। आप यह भी तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं कि **ब्राह्मण दो प्रकार के हैं एक तो धर्मनिरपेक्ष ब्राह्मण और दूसरे पुरोहित ब्राह्मण।** यदि पुरोहित ब्राह्मण जाति समाप्त करने वाले लोगों की तरफ से हथियार नहीं उठाता है तो धर्मनिरपेक्ष ब्राह्मण उठाएगा। इसमें कोई संदेह नहीं है कि ये सारी बातें ऊपर से बहुत ही विश्वसनीय लगती हैं लेकिन इन सब बातों में हम यह भूल गए हैं कि यदि जाति व्यवस्था समाप्त हो जाती है तो ब्राह्मण जाति पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए **क्या यह आशा करना उचित है कि ब्राह्मण लोग ऐसे आंदोलन का नेतृत्व करने के लिए सहमत होंगे जिसके परिणाम स्वरूप ब्राह्मण जाति की शक्ति और सम्मान नष्ट हो जाएगा?** क्या धर्म निरपेक्ष ब्राह्मणों से यह आशा करना उचित होगा कि वे पुरोहित ब्राह्मणों के विरूद्ध किए गए आंदोलन में भाग लेंगे? **मेरे निर्णय के अनुसार धर्मनिरपेक्ष ब्राह्मणों और पुरोहित ब्राह्मणों में भेद करना व्यर्थ है। वे दोनों आपस में नाते-गाते के लोग मित्र और रिश्तेदार हैं।** वे एक शरीर की दो भुजाएं है। **एक ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण का अस्तित्व बनाए रखने के लिए लड़ने**

के लिए बाध्य है। इस संबंध में मुझे प्रो. डाइसी की सारगभिर्त टिप्पणियां याद आती है जो उन्होंने अपने 'इंग्लिश कांस्टिट्यूशन' में दी हैं, संसद की विधायी सर्वोच्चता की वास्तविक परिसीमा के संबंध में डाइसी ने कहा है कि "किसी भी प्रभुतासंपन्न, विशेषत: संसद द्वारा सत्ता का वास्तविक प्रयोग दो परिसीमाओं से परिबद्ध या नियंत्रित है। इनमें एक बाह्य और दूसरी आंतरिक परिसीमा है। किसी प्रभुतासंपन्न की वास्तविक शक्ति की बाह्य सीमा ऐसी संभावना या निश्चितता को कहा जाता है कि उसकी प्रजा या अधिकांश प्रजा उसके कानूनों की अवज्ञा या विरोध करेगी। प्रभुसत्ता के प्रयोग की आंतरिक सीमा स्वयं प्रभुसत्ता के स्वरूप से उत्पन्न होती है। निरंकुश शासक भी अपने चरित्र के अनुसार अपनी शक्तियों का प्रयोग करता है, जिसका निर्माण उसकी परिस्थिति तत्समय प्रवृत्त नैतिक भावनाओं और उस समाज के आधार पर होता है जिससे वह संबंधित है। सुल्तान अगर चाहता भी तो मुस्लिम विश्व के धर्म को परिवर्तित नहीं कर सकता। लेकिन यदि वह ऐसा कर भी सकता था तो यह बिल्कुल असंभव था कि मुस्लिम धर्म का अध्यक्ष मुस्लिम धर्म को समाप्त करना चाहेगा। सुल्तान की शक्ति का प्रयोग करने से संबद्ध आंतरिक व्यवस्था भी इतनी ही मजबूत थी जितनी कि बाह्य परिसीमा। लोग कभी-कभी व्यर्थ का प्रश्न पूछते हैं कि पोप ने अमुक सुधार लागू क्यों नहीं किया? इसका सही उत्तर यह है कि एक क्रांतिकारी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो पोप बन जाए और जब कोई आदमी पोप बन जाएगा तब वह क्रांतिकारी बनना नहीं चाहेगा।" मेरे विचार से ये अभ्युक्तियां भारत के ब्राह्मणों पर भी समान रूप से लागू होती हैं और कोई भी व्यक्ति यह कह सकता है कि यदि कोई व्यक्ति पोप बन जाता है तो एक क्रांतिकारी बनने की उसकी इच्छा नहीं होती, जो व्यक्ति ब्राह्मण पैदा हुआ है वह एक क्रांतिकारी बनने की इच्छा बहुत कम करता है। **वास्तव में सामाजिक सुधार के मामले में किसी ब्राह्मण से एक क्रांतिकारी बनने की आशा करना उतना ही बेकार है** जितना कि ब्रिटिश संसद से यह आशा करना जैसा कि लेस्ली स्टीफन ने कहा था कि वह ऐसा अधिनियम पारित करेंगे जिसके अनुसार सभी नीली आंखों वाले बच्चों की हत्या कर दी जाएगी।

आपमें से कुछ यह कहेंगे कि यह एक मामलूी बात है कि जाति को समाप्त करने के आंदोलन को नेतृत्व करने के लिए ब्राह्मण आगे आएं अथवा नहीं। मेरे विचार से इस दृष्टिकोण को अपनाया जाना समाज के बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा अदा की गई भूमिका की उपेक्षा करना होगा। चाहे आप इस सिद्धांत को मानें या न मानें कि **एक महान पुरुष इतिहास का निर्माता होता है** लेकिन आपको इतना अवश्य स्वीकार करना होगा कि **प्रत्येक देश में बुद्धिजीवी वर्ग सर्वाधिक प्रभावशाली वर्ग रहा है वह भले ही शासक वर्ग न रहा हो। बुद्धिजीवी वर्ग वह है, जो दूरदर्शी होता है, सलाह दे**

सकता है और नेतृत्व प्रदान कर सकता है। किसी भी देश की अधिकांश जनता विचारशील एवं क्रियाशील जीवन व्यतीत नहीं करती। ऐसे लोग प्रायः बुद्धिजीवी वर्ग का अनुकरण औरैर अनुगमन करते हैं। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि किसी देश का संपूर्ण भविष्य उसके बुद्धिजीवी वर्ग पर निर्भर होता है। यदि बुद्धिजीवी वर्ग ईमानदार, स्वतंत्र और निष्पक्ष है तो उस पर यह भरोसा किया जा सकता है कि संकट की घड़ी में वह पहल करेगा और उचित नेतृत्व प्रदान करेगा। यह ठीक है कि प्रज्ञा अपने आपमें कोई गुण नहीं है। यह केवल साधन है और साधन का प्रयोग उस लक्ष्य पर निर्भर है जिसे एक बुद्धिजीवी व्यक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। बुद्धिजीवी व्यक्ति भला हो सकता है लेकिन साथ ही वह धूर्त भी हो सकता है। उसी प्रकार बुद्धिजीवी वर्ग उच्च विचारों वाले व्यक्तियों का एक दल हो सकता है जो सहायता करने के लिए तैयार रहता है और पथभ्रष्ट लोगों को सही रास्ते पर लाने के लिए तैयार रहता है। बुद्धिजीवी वर्ग धोखेबाजों का एक गिरोह या संकीर्ण गुट के वकीलों का निकाय हो सकता है जहां से उसे सहायता मिलती है। आपको यह सोचकर खेद होगा कि भारत में बुद्धिजीवी वर्ग ब्राह्मण जाति का ही दूसरा नाम है। आप इस बात पर खेद व्यक्त करेंगे कि ये दोनों एक हैं। बुद्धिजीवी वर्ग का अस्तित्व किसी एक जाति से आबद्ध होना चाहिए और इस बुद्धिजीवी वर्ग को ब्राह्मण जाति के हितों एवं आकांक्षाओं में साझेदारी करनी चाहिए जिसने **अपने आपको देश के हितों की बजाए उस जाति के हितों का अभिरक्षक समझ रखा है। सारी स्थिति अत्यंत खेदजनक हो सकती है लेकिन सच्चाई यह है कि ब्राह्मण लोग ही हिन्दुओं का बुद्धिजीवी वर्ग है।** यह केवल बुद्धिजीवी वर्ग ही नहीं है बल्कि यह वह वर्ग है जिसका कि शेष हिन्दू लोग बहुत आदर करते हैं। हिन्दुओं को यह पढ़ाया जाता है कि ब्राह्मण भूदेव है 'वर्णानाम् ब्राह्मणों गुरू।' हिन्दुओं को यह पढ़ाया जाता है उनके शिक्षक केवल ब्राह्मण ही हो सकते हैं। **मनु ने कहा है "यदि यह पूछा जाए कि धर्म के उन विषयों में क्या किया जाएगा जिनका विशेष रूप से उल्लेख नहीं किया गया है तो उत्तर यह है कि शिष्ट ब्राह्मण जो भी प्रस्तुत करेंगे वह विधि मान्य होगा।"**

अनाम्रातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः॥

जब ऐसा बुद्धिजीवी वर्ग जिसने शेष हिन्दू समाज पर नियंत्रण कर रखा है जाति में सुधार करने का विरोधी है तभी मुझे जाति प्रथा समाप्त करने वाले आंदोलन का सफल होना अत्यन्त दूर दिखाई देता है।

मैं यह क्यों कहता हूं कि यह कार्य असंभव हैं इसका दूसरा कारण अब स्पष्ट होगा जब आप यह याद रखें कि जाति–व्यवस्था के दो पक्ष हैं। पहले पक्ष के अनुसार मनुष्यों को अलग–अलग समुदायों में विभाजित किया जाता है। जाति–व्यवस्था के दूसरे पक्ष के अनुसार सामाजिक दर्जे में इन समुदायों को सोपानिक क्रम में निर्धारित किया जाता है। प्रत्येक जाति को गर्व है और इस बात से संतुष्टि है कि वह जाति क्रम में किसी अन्य जाति से ऊंची है। इस श्रेणीकरण के बाह्य लक्षण के रूप में सामाजिक और धार्मिक अधिकारों का भी एक श्रेणीकरण है जिन्हें शास्त्रीय रूप से **अष्टाधिकार** आरै **संस्कार** कहा जाता है। किसी जाति का दर्जा जितना ऊंचा होगा उतने ही अधिक उसके अधिकार होंगे। जिस जाति का दर्जा जितना नीचा होगा उतने ही कम उसके अधिकार होंगे। समुदाय के इस श्रेणीकरण तथा जातियों के इस सोपान ने जाति व्यवस्था के विरूद्ध एक सामूहिक मोर्चा खोलना असंभव बना दिया है। यदि कोई जाति अपने से ऊंची जाति के साथ अंतर्जातीय खान–पान एवं अंतर्जातीय विवाह का संबंध करने का अधिकार का दावा करती है तो उसका तत्काल निषेध कर दिया जाता है और शरारती लोग जिनमें अनेक ब्राह्मण भी शामिल हैं यह कहते हैं कि यह अंतर्जातीय खान–पान एवं अंतर्जातीय विवाह का संबंध अपने से नीची जाति तक ही अनुमत होगा। **सभी लोग जाति व्यवस्था के दास हैं। लेकिन सभी दासों को दर्जा बराबर नहीं है।** आर्थिक क्रांति लाने के लिए सर्वहारा वर्ग को उत्तेजित करने के लिए कार्ल मार्क्स ने उनसे यह कहा था– "दासता को छोड़कर आपका और कुछ नहीं जाएगा।" जिस कलात्मक ढंग से विभिन्न जातियों में सामाजिक और धार्मिक अधिकार वितरित किए गए थे, किसी जाति को ज्यादा तो कुछ को कम कार्ल मार्क्स के नारे का वह कलात्मक ढंग जाति व्यवस्था के विरूद्ध हिन्दुओं को उत्तेजित करने के लिए एकदम बेकार है। जातियां उच्च और निम्न प्रसुसत्ताओं की श्रेणीकृत व्यवस्था होती हैं। वे अपने दर्जे के लिए सतर्क होती हैं और यह समझा जाता है कि यदि जातियों का सामान्य विलय हुआ तो उनमें से कुछ की प्रतिष्ठा और शक्ति दूसरे जातियों के अपेक्षाकृत अधिक समाप्त हो जाएगी। इसे सैनिक भाषा में यों कहा जाएगा कि आप जाति व्यवस्था पर आक्रमण करने के लिए हिन्दुओं की आम लामबंदी नहीं कर सकते।

(22)

क्या आप तर्क का प्रश्न उठा सकते हैं और हिन्दुओं से यह कह सकते हैं कि वे जाति को समाप्त करें क्योंकि वह तर्क के विरूद्ध है? इससे प्रश्न उठता है क्या हिन्दू अपने तर्क का प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र हैं? मनु ने तीन अनुशास्तियां विहित की हैं जिनके अनुसार प्रत्येक हिन्दू को आचरण करना चाहिए:–

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः

यहां तर्क का प्रयोग करने के लिए कोई स्थान नहीं है। हिन्दू को वेद या स्मृति का अनिवार्यतः पालन करना होगा। वह किसी अन्य का पालन नहीं कर सकता। इस संबंध में सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि यदि वेदों और स्मृतियों के अर्थों के संबंध में कोई संदेह उठता है तो उनके पाठ का निर्वाचन कैसे किया जाएगा? इस महत्वपूर्ण प्रश्न के संबंध में मनु के निश्चित विचार हैं। वे कहते हैं:

योऽवमन्येत ते मूले हेतु शास्त्राश्रयात् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥

इस नियम के अनुसार वेदों और स्मृतियों की व्याख्या करने वाले सिद्धांत के रूप में तर्कणावाद को पूर्णतः निंदनीय बनाया गया है। इसे नास्तिकता के समान ही अनैतिक माना गया है। इस प्रकार जहां कोई विषय वेद या स्मृति से संबंधित होगा, वहां हिन्दू तर्कपूर्ण विचार नहीं कर सकता। यहां तक कि जहां वेदों और स्मृतियों में उन विषयों पर विरोध हैं जिनमें उन्होंने स्पष्ट निषेधाज्ञा जारी कर रखी है वहां भी तर्क का प्रयोग नहीं किया जाएगा। यदि दो श्रुतियों में विरोध है तो उनकी प्रामाणिकता समान मानी जाएगी। दोनों में से किसी एक का पालन किया जा सकता है लेकिन यह ज्ञात करने का कोई प्रयास नहीं किया जाएगा कि तर्क के आधार पर कौन सी श्रुति प्रामाणिक है। इसे मनु ने इस प्रकार स्पष्ट किया है:

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्याप्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।

"यदि श्रुति और स्मृति के बीच विरोध है तो श्रुति को अनिवार्यतः प्रामाणिक माना जाएगा।" इनके विषय में भी यह ज्ञात करने का प्रयास नहीं किया जाएगा कि तर्क के आधार पर दोनों में से कौन सी प्रामाणिक है। इसका उल्लेख मनु ने निम्नलिखित श्लोक में दिया है:

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि तः स्मृताः॥

इसके अतिरिक्त यदि दो स्मृतियों में विरोध है तो मनु स्मृति को अनिवार्य रूप से प्रामाणिक माना जाएगा लेकिन यह प्रयास नहीं किया जाएगा कि तर्क के आधार पर कौन सी स्मृति प्रामाणिक है। वृहस्पति द्वारा दी गई व्यवस्था इस प्रकार है:

वेदायत्वोपनिबंधृत्वत् प्रमाण्यं हि मनोः स्मृतं।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते।

अत: यह स्पष्ट है कि कोई भी हिन्दू उस किसी भी विषय में जिसमें श्रुतियों और स्मृतियों ने सुस्पष्ट निर्देश दे दिया है अपनी तर्क शक्ति का प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र नहीं है। महाभारत में भी यही नियम विहित किया गया है:

पुराणं मानवो धर्मः सांगो वेदश्चिकित्सितं।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

हिन्दू को इन निर्देशों का अनिवार्य रूप से पालन करना होगा। जाति तथा वर्ण ऐसे विषय हैं जिन पर वेदों और स्मृतियों में विचार किया गया है, इसका परिणाम यह हुआ है कि यदि किसी हिन्दू से तर्क करने का आग्रह किया जाए तो उस पर कोई असर नहीं होता। जहां तक जाति और वर्ण का संबंध है शास्त्रों में केवल यही नहीं कहा गया है कि हिन्दू किसी प्रश्न पर निर्णय लेने में तर्क का आधार नहीं ले सकता बल्कि यह भी कहा गया है कि जाति और वर्ण में उसके विश्वास के आधार की समीक्षा तार्किक ढंग से नहीं की जाएगी। अनेक गैर हिन्दू लोगों के लिए यह मौन मनोरंजन का विषय साबित होगा जब वे यह देखेंगे कि कुछ अवसरों जैसे रेल यात्रा तथा विदेश यात्रा में अनेक हिन्दू जाति का बंधन तोड़ देते हैं लेकिन फिर भी वे अपने शेष जीवन में जाति को बनाए रखने का प्रयास करते रहते हैं! यदि इस घटना की व्याख्या की जाए तो ज्ञात होगा कि हिंदुओं की तर्क शक्ति पर एक और नियंत्रण है। मनुष्य का जीवन सामान्यत: आभ्यासिक तथा अचिंतनशील होता है। किसी धर्म, विश्वास या ज्ञान के कल्पित रूप के संबंध में सक्रिय, संगत एवं श्रमसाध्य विचार की दृष्टि से उसके समर्थक आधार तथा संभावित निष्कर्षों के परिप्रेक्ष्य में चिंतनशील विचार यदा कदा और केवल धर्म संकट में किया जाता है। किसी हिन्दू के जीवन में रेल यात्राएं और विदेश यात्राएं वास्तव में ऐसे ही धर्मसंकट होते हैं। ऐसे अवसरों पर किसी हिन्दू से यह आशा करना स्वाभाविक है कि वह अपने आपसे यह पूछे कि जब वह सदैव जाति का पालन नहीं कर सकता तो वह जाति को मानता ही क्यों है। लेकिन वह यह प्रश्न अपने आपसे नहीं करता है। वह एक कदम पर जाति को तोड़ देता है और दूसरे कदम पर कोई प्रश्न उठाए बिना उसका पालन करने लगता है। **ऐसा अद्‌भुत आचरण करने का कारण शास्त्रों के नियम में मिलेगा जो उसे यह निर्देश देता है कि उसे यथासंभव जाति का पालन करना चाहिए और पालन न करने की स्थिति में उसे प्रायश्चित करना चाहिए। प्रायश्चित के इस सिद्धांत के अनुसार शास्त्रों ने समझौते वाली भावना का पालन करते हुए जाति को हमेशा के लिए जीवनदान दे दिया और चिंतनशील विचारों की अभिव्यक्ति को दबा दिया, क्योंकि ऐसा न करने पर जाति की धारणा नष्ट हो सकती थी।**

ऐसे अनेक समाज सुधारक हुए हैं जिन्होंने जाति तथा अस्पृश्यता का उन्मूलन करने के लिए कार्य किया है। उनमें रामानुज, कबीर आदि प्रमुख हैं। क्या आप इन समाज सुधारकों के कार्यों का समर्थन कर सकते हैं और हिन्दुओं को उपदेश दे सकते हैं कि वे उनका पालन करें? यह सच है कि मनु ने श्रुति और स्मृति के साथ अनुशासित के रूप में सदाचार को भी शामिल कर दिया है। वास्तव में सदाचार को शास्त्रों की अपेक्षा उच्च स्थान प्रदान किया गया है:

यद्यद्दाचर्यते येन धर्म्यं वाऽधर्म्यमेव वा।
देशस्याचरणं नित्यं चरित्रं तद्धिकीर्तितम्।।

सदाचार भले ही शास्त्रों के अनुसार धर्म या अधर्म हो या शास्त्रों के प्रतिकूल हो, लेकिन उसका पालन करना होगा। लेकिन सदाचार का अर्थ क्या है? यदि कोई व्यक्ति यह मानता है कि सदाचार का अर्थ किसी भले या धार्मिक व्यक्ति के उचित या नेक कार्यों से हैं तो यह उसकी सबसे बड़ी गलती होगी, **सदाचार का अर्थ** नेक कार्यों या नेक व्यक्ति से नहीं है। इसका **अर्थ अच्छी या बुरी प्राचीन प्रथा** से है। यह बात निम्नलिखित श्लोक में स्पष्ट की गई है:

यस्मिन देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः।
वर्णानां किल सर्वेषां स सदाचार उच्यते।।

लोगों को इस विचार के विरूद्ध चेतावनी देने के लिए कि सदाचार का अर्थ नेक कार्यों या नेक व्यक्ति के कार्यों से नहीं है और इस बात की आशंका करते हुए कि लोग उसका अर्थ वैसा ही समझ सकते हैं और नेक व्यक्तियों के कार्यों का अनुसरण कर सकते हैं **स्मृतियों में हिन्दुओं को स्पष्ट आज्ञा दी गई है कि वे नेक कार्यों के लिए देवताओं का भी अनुसरण न करें, यदि वे श्रुति, स्मृति और सदाचार के प्रतिकूल हैं।** इसे आप चाहे असाधारण या अत्यतं विकृत विचार कह सकते हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि न **देव चरितं चरेत् एक निषेधाज्ञा** है जो हिन्दुओं को उनके शास्त्रों द्वारा दी गई है। किसी भी सुधारक के शास्त्रागार में तर्क और नैतिकता दो ही शक्तिशाली हथियार होते है। यदि उससे ये दोनों हथियार छीन लिए जाएं तो वह कार्य करने में असशक्त हो जाएगा। आप जाति को कैसे समाप्त कर पाएगें? **जब लोगों को यह सोचने की स्वतंत्रता नहीं है कि क्या यह नैतिकता के अनुकूल है?** जाति के चारों तरफ बनाई गई दीवार दुर्जय है और जिस सामग्री से इसका निर्माण किया गया है उसमें तर्क और नैतिकता जैसा कोई ज्वलनशील पदार्थ नहीं है। इसी दीवार के पीछे ब्राह्मणों की फौज खड़ी है, उन ब्राह्मणों की जो एक बुद्धिजीवी वर्ग हैं, उन ब्राह्मणों की जो हिन्दुओं के

प्राकृतिक नेता हैं, **उन ब्राह्मणों की जो वहां मात्र भाड़े के सैनिकों के रूप में नहीं हैं बल्कि अपने देश के लिए लड़ती हुई सेना के रूप में हैं,** अब आप समझ गए होंगे कि मैं ऐसा क्यों सोचता हूं कि हिन्दुओं की जाति को समाप्त करना प्राय: असंभव है। बहरहाल इसे समाप्त करने से पहले कई युग बीत जाएंगे। चाहे कार्य करने में समय लगता है या चाहे उसे तुरंत किया जा सकता है लेकिन आपको यह नहीं भूलना चाहिए कि **यदि आप जाति में दरार डालना चाहते हैं तो इसके लिए आपको हर हालत में वेदों और शास्त्रों में डाइनामाइट लगाना होगा,** क्योंकि वेद और शास्त्र किसी को भी तर्क से अलग हटाते हैं और वेद तथा शास्त्र किसी को भी नैतिकता से वंचित करते है। **आपको श्रुति और स्मृति के धर्म को नष्ट करना ही चाहिए इसके अलावा और कोई चारा नहीं है। यही मेरा जाति पर तार्किक विचार है।**

(23)

कुछ लोग नहीं समझ सकते कि धर्म के विनाश से मेरा आशय क्या है; कुछ को यह धारणा विद्रोही लग सकती है और कुछ को यह क्रांतिकारी विचार लग सकता है। इसलिए मैं अपनी स्थिति स्पष्ट करना चाहता हूं। मैं नहीं जानता कि क्या आप सिद्धांतों और नियमों में भेद करते हैं या नहीं। लेकिन मैं इनके बीच भेद मानता हूं। मैं न केवल इनको अलग-अलग मानता हूं बल्कि यह भी मानता हूं कि इनमें भेद वास्तविक और महत्वपूर्ण हैं। **नियम व्यवहारिक होते हैं इनके निर्धारित मानदंड के अनुसार काम करने के प्रथागत रास्ते हैं।। परंतु सिद्धांत बौद्धिक होते हैं; ये चीजों को परखने के उपयोगी साधन हैं। ये नियमकर्ता को बताते है कि किसी कार्य को करने के लिए कौन सी कार्यविधि अपनाई जाए। सिद्धांत कोई निश्चित कार्यविधि निर्धारित नहीं करते। नियम खाना बनाने की विधि की तरह बताते है कि क्या किया जाए और कैसे किया जाए।** सिद्धातं, जैसे न्याय के सिद्धांत प्रमुख शीर्ष बताते हैं, जिसके सदंर्भ में उसे अपनी इच्छाओं और लक्ष्यों के दिशाकोण पर विचार करना होता है ये उसे सुझाव देकर उसका मार्गदर्शन करते हैं कि उसे किन महत्वपूर्ण बातों को ध्यान में रखना चाहिए। निमय और सिद्धांतों का भेद उसके किए गए कार्य के गुण और विषय वस्तु से अंतर स्पष्ट हो जाता है। कोई अच्छा कार्य करना जिसे नियम अच्छा मानते हैं तथा सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में अच्छा कर्म करना दो अलग-अलग बातें है। सिद्धांत गलत भी हो सकता है लेकिन इससे अंतर्गत किया गया कर्म सचेतन होता है और इसका एक उत्तरदायित्व होता है। नियम सही हो सकता है और इसके अंतर्गत किया गया कर्म मशीनी होता है। कोई धार्मिक कर्म सही कर्म न भी हो किंतु इस कर्म का एक उत्तरदायित्व होता है। इस उत्तरदायित्व के कारण धर्म केवल सिद्धांतों पर आधारित होता है। यह नियमों का विषय

नहीं हो सकता जिस क्षण सिद्धांत विकृत होकर नियम में बदल जाता है उसी समय यह धर्म नहीं रह जाता क्योंकि वह उत्तरदायित्व को समाप्त कर देता है जो वास्तविक धार्मिक कर्म का सार होता है। **हिन्दू धर्म क्या है? क्या ये सिद्धांतों का समूह है या नियम संहिता? वेदों औरैर स्मृतियों में वर्णित हिन्दू धर्म कुछ भी नहीं है, यह केवल बलि, सामाजिक, राजनैतिक तथा स्वच्छता के नियम और विनिमय का मिला जुला पुंज है। हिन्दू जिसे धर्म कहते है वह और कुछ भी नहीं केवल आदेशों तथा निषेधाज्ञों का पुलिंदा है। आध्यात्मिक सिद्धांतों के रूप में धर्म यथार्थ में सार्वभौमिक होता है जो सारी प्रजातियों और देशों पर हर हाल में समान रूप से लागू होता है।** ये तत्व हिन्दू धर्म में विद्यमान नहीं हैं और यदि हैं भी तो यह हिन्दू के जीवन को संचालित नहीं करते। **हिन्दू के लिए धर्म शब्द का तात्पर्य धार्मिक अध्यादेशों या अनुष्ठानों से है।** यहां तक की जैमिनी ने अपनी 'पूर्व मीमांसा' में धर्म की परिभाषा इस प्रकार की है 'एक इच्छित लक्ष्य या परिणाम जो आदेशार्थ है जिसे वैदिक परिच्छेदों में बताया गया है।' सरल और सीधी भाषा में कहा जाए तो हिन्दू धर्म को कानून या अधिक से अधिक कानूनी वर्ग नीति मानते हैं। **स्पष्ट रूप से कहा जाए तो मैं इस अध्यादेशीय संहिता को धर्म मानने से इंकार करता हूं।** गलत रूप से धर्म कही जाने वाली इस अध्यादेशीय संहिता की पहली बुराई यह है कि यह नैतिक जीवन को स्वतंत्रता और स्वेच्छा से वंचित करती है अर्थात अंतःकरण के विवेकपूर्ण आदेशों को किसी भी कीमत पर रोकती है तथा बाहर से थोपे गए नियमों द्वारा उद्विग्न और दास बना देती है। इसके अंतर्गत आदर्शों के प्रति निष्ठा नहीं है केवल आदेशों का पालन ही आवश्यक है। इस अध्यादेशीय संहिता की सबसे बड़ी बुराई यह है कि इसमें वर्णित कानून अनिवार्य रूप से कल आज और हमेशा के लिए एक ही हैं। ये कानून असमान हैं तथा सभी वर्गों पर समान रूप से लागू नहीं होते। इस असमानता को चिरस्थायी बना दिया गया है क्योंकि इसे सभी पीढ़ियों के लिए एक ही प्रकार से लागू किया गया है। आपत्तिजनक बात यह नहीं है कि इस संहिता को किसी पैगम्बर या कानूनदाता कहे जाने वाले महान व्यक्ति ने बनाया है। **आपत्तिजनक बात यह है कि इस संहिता को अंतिमता व स्थिरता प्रदान की गई है।** मन की प्रसन्नता किसी व्यक्ति की अव्यवस्थाओं तथा परिस्थितियों के अनुसार कुख्यात रूप से बदलती रहती है। मन की प्रसन्नता अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अलग-अलग काल में भी बदलती रहती है। इस स्थिति में मानवता कब तक शिकंजे में जकड़े और अपंग बने रहकर इस बाहरी कानून की संहिता को सहन कर सकती है? इसलिए यह कहने में मुझे कोई झिझक नहीं है **ऐसे धर्म को अनिवार्य रूप से नष्ट किया जाना चाहिए** तथा ऐसे धर्म को नष्ट करने का कार्य किसी भी रूप में अधर्म नहीं कहलाएगा। यथार्थ में मैं

विश्वास करता हूं कि जो कानून को धर्म के मिथ्या नाम से पुकारने का मिथ्या वर्णन करता है उस मुखौटे को जड़ से नष्ट करना विलक्षण कार्य है और **यह आपका बाध्यकारी परम कर्तव्य है, यह आपके लिए एक सारभूत कार्य है। एक बार जब आप लोगों के मस्तिष्क को इस मिथ्या बुद्धि अर्थात भ्रम से शुद्ध कर देते हैं और इस सच्चाई से अवगत कराकर उन्हें सामर्थ्यवान बनाते हैं कि जिसे वे (हिन्दू) धर्म बताते हैं वह धर्म नहीं अपितु यथार्थ में कानून है तब आप लोगों को इसे (कानून को जिसे हिन्दू धर्म बताते हैं) संशोधित या समाप्त करने के लिए प्रेरित करने की स्थिति में होंगे।** जब तक लागे इसे धर्म मानते रहेंगे तब तक वे इसमें संशोधन के लिए तैयार नहीं होंगे क्योंकि यदि आमतौर पर कहा जाए तो धर्म को बदल डालने का विचार मान्य नहीं होता है लेकिन कानून की धारणा बदलाव की धारणा से जुड़ी होती है और **जब लोग समझ जाते हैं कि यह धर्म एक सड़ा हुआ प्राचीन कानून है तब वे इसे बदलने के लिए तैयार हो जाएंगे क्योंकि लोग जानते हैं और विश्वास करते हैं कि कानून बदला जा सकता है।**

(24)

यद्यपि मैं नियम रूपी धर्म की निंदा करता हूं तथापि इसका अर्थ यह न लगाया जाए कि धर्म की आवश्यकता ही नहीं। इसके विपरीत मैं बर्क के कथन से सहमत हूं जो कहता है कि– "सच्चा धर्म समाज की नींव है, जिस पर सब नागरिक सरकारें टिकी हुई हैं और जो दोनों को दृढ़ करता है।"

परिणामत: जब मैं प्रेरित करता हूं कि जीवन के ऐसे पुराने नियम समाप्त कर दिए जाएं तब मैं यह देखने का उत्सुक हूं कि इसका स्थान धर्म के सिद्धांत ले लें तभी हम दावा कर सकते है कि यही सच्चा धर्म है। वास्तव में मैं इस बात से पूरी तरह सहमत हूं कि धर्म आवश्यक है। इसलिए मैं आपको कहना चाहता हूं कि धर्म में सुधार को मैं एक आवश्यक पहलू मानता हूं। मेरे विचार से धर्म में सुधार के मूलभूत मुद्दे इस प्रकार हैं:

(1) हिन्दू धर्म की केवल एक और केवल एक ही मानक पुस्तक होनी चाहिए, जिसे सारे के सारे हिन्दू स्वीकार करें और मान्यता दें। इससे वस्तुत: मेरा तात्पर्य यह है कि **वेदों, शास्त्रों और पुराणों को पवित्र और अधिकृत ग्रंथ मानने पर अनिवार्य रूप से कानून द्वारा रोक लगे तथा इन ग्रंथों में निहित धार्मिक या सामाजिक मत का प्रवचन करने पर सजा का प्रावधान हो।**

(2) अच्छा होगा यदि हिन्दुओं में पुरोहिताई समाप्त की जाए। चूंकि ऐसा होना

असंभव है इसलिए पुरोहिताई पुश्तैनी नहीं होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति जो अपने आपको हिन्दू मानता है अनिवार्य रूप से पुरोहित बनने के लिए उपयुक्त होगा उसे राज्य के द्वारा परीक्षा पास कर सनद प्राप्त कर लेने पर पुजारी बनने का अधिकार होना चाहिए।

(3) बिना सनद के धर्मानुष्ठान करने को कानूनन वैध नहीं माना जाना चाहिए। जिनके पास सनद नहीं है उनके द्वारा पुजारी का काम किए जाने पर सजा का प्रावधान हो।

(4) पुजारी एक सरकारी नौकर होना चाहिए जिसके ऊपर नैतिकता, आस्था पूजा के मामलों में अनुशासनात्मक कार्यवाही की जा सके। इसके अलावा इस पर नागरिक कानून भी लागू होने चाहिए

(5) पुजारियों की संख्या को कानून द्वारा आवश्यकता के अनुरूप सीमित किया जाना चाहिए जैसा कि आई.सी.एस. के पदों की संख्या के बारे में किया जाता है। कुछ लोगों के लिए यह सुझाव अति सुधारवादी लग सकता है लेकिन इसे मैं क्रांतिकारी कदम नहीं मानता हूं। भारत में प्रत्येक व्यवसाय का नियमन किया गया है। जैसे इंजीनियर द्वारा योग्यता दर्शाई जानी चाहिए इससे पहले कि वे अपने पेशे को अपनाएं। अपने पेशे के संपूर्ण समय के दौरान वे न केवल नागरिक और आपराधिक कानून मानने के लिए बाध्य हैं, बल्कि संबंधित पेशे में नैतिकता की विशेष आचार संहिता भी मानने को वे बाध्य हैं। **केवल पुजारी का ही पेशा ऐसा है जिसमें योग्यता दर्शाने की आवश्यकता नहीं है।** हिन्दू पुजारी का ही केवल ऐसा पेशा है जिसके लिए कोई आचार संहिता निर्धारित नहीं है। मानसिक रूप से पुजारी मूर्ख हो सकता है, शारीरिक रूप से वह किसी खराब बीमारी, जैसे सूजाक या सिफलिस से ग्रसित हो सकता है और नैतिक रूप से वह अधर्मी हो सकता है। इसके बावजूद वह पुण्य अनुष्ठान कर सकता है। हिन्दू मंदिर के गर्भगृह में प्रवेश कर सकता है तथा हिंदू देवताओं की पूजा कर सकता है। इसके लिए एक ही शर्त है कि वह ब्राह्मण जाति में पैदा हुआ हो। यह सब घृणास्पद है और यह सब इस कारण है कि हिन्दू पुजारी पर न तो कोई कानून लागू है और न ही कोई नैतिकता की आचार संहिता। इनके लिए कोई कर्तव्य निर्धारित नहीं है। केवल अधिकार और सुविधाएं इन्हें मिली हुई हैं। **यह (पुजारी) एक ऐसी महामारी है जिसे देवतागणों ने समाज के मानसिक तथा नैतिक पतन के लिए लाद दिया है।**

जैसा कि मैंने इससे पूर्व उल्लेख किया है पुरोहित वर्ग को कानून निर्माण द्वारा नियंत्रण में लिया जाना चाहिए। इससे लोगों का अनिष्ट करने और उन्हें गुमराह करने पर रोक लगेगी। इससे पुरोहिताई प्रजातांत्रिक संस्था बन जाएगी तथा पुरोहित बनने के अवसर

सभी के लिए खुल जाएंगे। इस प्रकार ब्राह्मणवाद को मारने में मदद मिलेगी और जातियों की समाप्ति के लिए भी मदद मिलेगी जो ब्राह्मणवाद की ही देन है। ब्राह्मणवाद ऐसा जहर है जिससे हिन्दूवाद खराब हुआ है। ब्राह्मणवाद को मारने के बाद ही आप हिन्दूवाद को बचाने में सफल हो पाएंगे। किसी भी ओर से इन सुधारों का विरोध नहीं होना चाहिए। आर्य समाजियों द्वारा भी इन सुझावों का स्वागत किया जाना चाहिए क्योंकि ये उनके द्वारा अपनाए गए सिद्धांत 'गुणकर्म' के अनुरूप हैं।

चाहे आप ऐसा करें या न करें आपको अपने धर्म को एक नया सैद्धांतिक आधार देना होगा जो स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के, संक्षेप में प्रजातंत्र के अनुरूप हो। मैं इस विषय का विशेषज्ञ नहीं हूं। लेकिन मुझे बताया गया है कि **ऐसे धार्मिक सिद्धांत जो स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के अनुरूप हों, उन्हें विदेश से लाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस प्रकार के सिद्धांत बौद्ध धम्म में वर्णित हैं।** आप चाहें तो पूरा ढांचा बदले बिना कच्ची धातु की यथेष्ट कटाई छंटाई करके यह किया जा सकता है जो मेरे कथन से अधिक है। इसका तात्पर्य है कि जीवन की मूलभूत धारणाओं को पूरी तरह बदला जाए। इसका तात्पर्य है कि जीवन के मूल्यों को पूरी तरह बदला जाए। इसका तात्पर्य है कि मनुष्य और चीजों के प्रति दृष्टिकोण तथा रवैए में पूरा बदलाव लाया जाए। **इसका अर्थ है धर्म परिवर्तन परंतु यदि आप इस शब्द को पसंद नहीं करते तो मैं कहूंगा इसका अर्थ है नया जीवन।** लेकिन एक नया जीवन मृत शरीर में प्रवेश नहीं कर सकता, नया जीवन केवल नए शरीर में ही प्रवेश कर सकता है। इससे पहले कि नया शरीर अस्तित्व में आए और उसमें नया जीवन प्रवेश कर सके, पुराने शरीर को हर हालत में मरना चाहिए। साधारण शब्दों में, **इससे पहले कि नया जीवन डाला जाए उसे उत्साहित किया जाए और उसमें स्पंदन हो, पुराने जीवन को अनिवार्यतः समाप्त होना चाहिए। यही मेरे कहने का अर्थ है जब मैंने कहा था कि आपको अनिवार्य रूप से शास्त्रों की सत्ता को हटाना होगा और शास्त्रों के धर्म को नष्ट करना होगा।**

(25)

मैंने आपको बहुत देर तक बिठाकर रखा है। अब समय आ गया है कि मैं अपना भाषण समाप्त करूं। यह एक सुविधाजनक बिंदु है जहां मुझे रुक जाना चाहिए लेकिन **संभवतः हिन्दू श्रोताओं के बीच में ऐसे विषय पर यह मेरा अंतिम भाषण है।** जो विषय हिन्दुओं के लिए प्राणाधार हैं इससे पहले कि मैं भाषण देना बंद करू मैं हिन्दुओं के सामने ऐसे प्रश्न रखना चाहता हूं जिसको मैं अति महत्वपूर्ण समझता हूं और मैं उन्हें उन पर विचार करने के लिए आमंत्रित करता हूं।

सबसे पहले हिन्दुओं को विचार करना चाहिए कि क्या वे आस्था, आदतें, नैतिकता और जीवन के प्रति धारणा के बारे में नृजाति विज्ञानियों के शांतिपूर्ण दृष्टिकोण को मानना काफी मानते हैं जो संसार के अलग-अलग लोगों में भिन्न-भिन्न रूप में पाए जाते हैं, या यह क्या आवश्यक नहीं है कि यह पता लगाने का प्रयास किया जाए कि **संसार में किस प्रकार की नैतिकता, आस्था तथा दृष्टिकोण रखने वाले लोग पनपे हैं, मजबूत हुए हैं तथा उन्होंने इस पृथ्वी पर राज किया है।** जैसा कि प्रोफेसर कारवर ने कहा है कि "नैतिकता आरै धर्म जो नैतिक स्वीकृति और अस्वीकृति की संगठित अभिव्यक्ति हैं, अस्तित्व के संदर्भ में महत्वपूर्ण तत्व हैं जो आक्रमण और रक्षा के सच्चे हथियार, दांत और पंजे, सींग और खुर, फर और पंख, अर्थात सब कुछ हैं। सामाजिक समूह, समुदाय, आदिम निवासी या राष्ट्र जो नैतिकता की अव्यवहार्य योजनाएं विकसित कर लेते हैं या इनके अंतर्गत ऐसे सामाजिक धर्म विकसित कर लेते हैं जो उन्हें अस्तित्व के लिए कमजोर और अक्षम बनाते हैं आदतन स्वीकृति की भावना पैदा करते हैं जब की वे सामाजिक कर्म जो उन्हें मजबूत और विस्तार के लिए समर्थ बनाते हैं आदतन तिरस्कार की भावना पैदा करते हैं और अंततः अस्तित्व के संघर्ष में मिट जाते हैं। इन आदतों की स्वीकृति या अस्वीकृति ही (ये धर्म और नैतिकता के परिणाम हैं) उन्हें इसी प्रकार पंगु बना देती है जिस प्रकार पक्षिका के एक ओर दो पंख हों तथा दूसरी ओर कोई पंख न हो तो पक्षिका उड़ ही नहीं पाएगी। इस बात पर बहस बेकार है कि एक व्यवस्था अच्छी है तो दूसरी व्यवस्था भी अच्छी होगी।" इसलिए नैतिकता और धर्म केवल पसंद और नापसंदी के मुद्दे नहीं हैं। आप नैतिकता की व्यवस्था को अत्याधिक नापसंद कर सकते हैं **जिसे एक राष्ट्र में सार्वभौमिक रूप से लागू किया जाए तो वह राष्ट्र पृथ्वी पर एक सबसे मजबूत राष्ट्र बन जाएगा।** आपकी नापसंदगी के बाद भी ऐसा राष्ट्र मजबूत हो जाएगा। आप किसी एक नैतिकता की व्यवस्था और न्याय के आदर्श को अत्याधिक पसंद कर सकते हैं, जो यदि किसी राष्ट्र में सार्वभौमिक रूप से लागू किया जाए तो वह राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के साथ संघर्ष में खड़ा नहीं रह पाएगा। आपकी इस प्रशंसा के बावजूद ऐसा राष्ट्र अंततः लुप्त हो जाएगा। हिन्दुओं को अपने धर्म और नैतिकता को अस्तित्व के मूल्यों के संदर्भ में परखना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि हिन्दुओं को इस पर विचार करना चाहिए कि उन्हें अपनी संपूर्ण सामाजिक धरोहर को सूरक्षित रखना है **या जो उपयोगी हो उसे चुनकर भावी पीढ़ियों को केवल उतना ही हस्तांतरित करना है और उससे अधिक बिल्कुल नहीं।** प्रोफेसर जॉन डिवी जो मेरे शिक्षक रहे हैं तथा जिनका मैं ऋणी हूं ने कहा है, "प्रत्येक समाज तुच्छ बातों से अतीत की सूखी लकड़ियों से तथा निश्चित रूप से विकृत चीजों

से भार ग्रस्त हो जाता है। चूंकि समाज अधिक प्रबुद्ध हो जाता है। इसलिए वह महसूस करता है कि वह सरंक्षण के लिए उत्तरदायी नहीं है परंतु **वह केवल इस बात का उत्तरदायी है कि अधिक श्रेष्ठ भावी समाज का निर्माण किया जाए।"** जहां तक की बर्क फ्रांस की क्रांति में निहित सिद्धांतों के बदलाव का तीव्र विरोध करने के बावजूद यह मानने को बाध्य हुआ कि "ऐसा राज्य जो बदलाव के साधन से रहित है वह राज्य के रक्षण के साधनों से भी रहित है। बदलाव के साधन के बिना ऐसे राज्य को संविधान के उस भाग का नुकसान होने का भी जोखिम उठाना पड़ेगा जिस भाग की वह धर्मनिष्ठा से रक्षा करना चाहता है।" बर्क ने राज्य के बारे में जो कहा है वही बात समाज के बारे में भी लागू होती है।

तीसरी बात यह है कि **हिन्दुओं को अतीत की पूजा बंद करने पर विचार करना चाहिए।** इस पूजा के गलत परिणामों के बारे में **प्रोफेसर डिवी ने कहा है "व्यक्ति केवल वर्तमान में जी सकता है।** वर्तमान, भूतकाल के बाद नहीं आता या इसे भूतकाल का परिणाम नहीं मानेंगे। जीवन इसी में है कि अतीत को वर्तमान के पीछे छोड़ दिया जाये, अतीत के परिणामों के अध्ययन से ही वर्तमान को समझने में मदद नहीं मिलेगी। अतीत का तथा अतीत की धरोहर का वर्तमान में प्रवेश करने को ही महत्वपूर्ण समझना अन्यथा नहीं। अतीत के रिकार्ड तथा अवशेष को बनाने में हुई गलतियों को शिक्षा का प्रमुख साधन बना देने से अतीत को हम वर्तमान का विरोधी बना देते हैं तथा वर्तमान को हम बहुत कुछ अतीत की नकल बना देते हैं।" ऐसा सिद्धांत जो वर्तमान के जीने एवं आगे बढ़ने के कर्म को छोटा मानता है, वर्तमान को रिक्त समझता है तथा भविष्य को बहुत दूर। ऐसा सिद्धांत प्रगति का दुश्मन है और जीवन के तेज व अनवरत प्रवाह में बाधा पैदा करता है।

चौथा, क्या हिन्दुओं को इस पर विचार कर मान नहीं लेना चाहिए कि कुछ भी स्थिर नहीं है कुछ भी शाश्चात नहीं है और न ही कुछ सनातन है, हर चीज परिवर्तनशील है, व्यक्ति और समाज के लिए परिवर्तन जीवन का नियम है। एक बदलते हुए समाज में पुराने मूल्यों में सतत् क्रांतिकारी बदलाव आना चाहिए तथा हिन्दुओं को अनिवार्यतः यह महसूस करना चाहिए कि **यदि मनुष्य के कार्यों को मापने के अनिवार्य रूप से कुछ मानक हैं तो उन मानकों को सुधारने के लिए अनिवार्यतः तैयार रहना चाहिए।**

(26)

मुझे यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि यह भाषण बहुत लंबा हो गया है। अब आपको निर्णय करना है कि अधिक विस्तार और गहराई से इस गलती की क्षतिपूर्ति हुई

है या नहीं। मैं यही दावा करता हूं कि मैंने अपने विचार स्पष्ट रूप से बता दिए हैं। मेरे पास इन विचारों की अनुशंसा के लिए कुछ अध्ययन और आपकी नियति के लिए गहन चिंता के सिवाय बहुत थोड़ा है। अगर आप मुझे अनुमति दें तो मैं कहूंगा कि **ये विचार उस व्यक्ति के हैं जो व्यक्ति न तो सत्ता का औजार है और न ही बड़ों का चाटुकार। ये विचार ऐसे व्यक्ति के हैं, जिसका सार्वजनिक जीवन गरीब और दबे कुचले लोगों की स्वतंत्रता के लिए समर्पित है,** लेकिन जिसकी राष्ट्रीय नेताओं और समाचार पत्रों में निंदा की, मैं बिना दांवपेंच खेले यह कहना चाहता हूं कि ऐसे नेताओं का साथ देने से मैं इंकार करता हूं जो निरंकुश के स्वर्ण से तथा रईस के धन से दबे कुचले लोगों को स्वतंत्रता दिलाने का चमत्कार दिखाना चाहते हैं। मेरे विचारों की सिफारिश के लिए इतना सब काफी नहीं है। मैं सोचता हूं कि शायद ये विचार आपके विचारों को नहीं बदल पाएंगे। ये विचार ऐसा कर पाते हैं या नहीं यह बात आप पर निर्भर है। आपका जाति को जड़ से उखाड़ फेंकने का काम अगर मेरे मार्गदर्शन में नहीं हुआ आपने अपने तरीके से किया तो मैं आपका साथ नहीं दे पाऊंगा। **मैंने धर्म परिवर्तन करने का फैसला कर लिया है।** यह उपयुक्त स्थान नहीं है जहां इसके लिए मैं कारण बताऊं। लेकिन आपके दायरे से बाहर जाने के बाद भी मैं आपके आंदोलन को सक्रिय सहानुभूति से परखता रहूंगा तथा मैं यथाशक्ति आपकी सहायता करता रहूंगा। आपका यह एक राष्ट्रीय लक्ष्य है। इसमें संदेह नहीं है कि जाति हिन्दुओं की धड़कन है, पर हिंदुओं ने वातावरण को प्रदूषित किया है, जिससे प्रत्येक संक्रमित है, जिसमें सिख, मुस्लिम और ईसाई भी शामिल हैं। आप सिख, मुस्लिम और ईसाई सहित उन सबके समर्थन के पात्र हैं जो इस संक्रमण से ग्रसित हैं। आपका राष्ट्रीय कार्य अन्य राष्ट्रीय आंदोलनों से कठिन है जैसे कि स्वराज। स्वराज के लिए संघर्ष में सारा राष्ट्र आपके साथ संघर्ष करता है लेकिन आपके आंदोलन में आपको अपने ही राष्ट्र के साथ लड़ना पड़ता है और अपने ही लोगों के साथ भी। लेकिन यह कार्य स्वराज से ज्यादा महत्वपूर्ण है। स्वराज का कोई मतलब नहीं रह जाएगा अगर आप इसकी रक्षा न कर पाए। स्वराज से ज्यादा महत्वपूर्ण प्रश्न स्वराज के अंतर्गत हिन्दुओं को बचाना है। मेरे विचार से हिन्दू समाज जब एक जातिहीन समाज बन जाएगा, तभी इसके पास स्वयं को बचाने के लिए काफी शक्ति होगी। इस आंतरिक ताकत के बिना हिन्दुओं के लिए स्वराज गुलामी की ओर केवल एक कदम होगा। अलविदा तथा आपकी सफलता के लिए मेरी शुभकामनाएं।

* * * * *

परिशिष्ट I

गांधी द्वारा जाति की रक्षा

'हरिजन' पत्रिका में 15 अगस्त 1936 को छपे उनके लेख का पुनर्मुद्रण

डा. आंबेडकर का अभियोग

(1)

पाठकों को याद होगा कि डा. आंबेडकर को लाहौर के जातपांत तोडक मंडल के वार्षिक सम्मेलन की अध्यक्षता विगत मई माह में करनी थी। लेकिन स्वागत समिति ने डा. आंबेडकर का भाषण अस्वीकार्य होने पर सम्मेलन का आयोजन ही स्थगित कर दिया था। अपनी पसंद के अध्यक्ष का भाषण आपत्तिजनक पाए जाने पर उसे स्वागत समिति द्वारा अस्वीकार करना कहां तक न्याय संगत है जब की उस भाषण पर प्रश्न उठाने के अवसर खुले थे। समिति जातपांत और हिन्दू धर्म ग्रंथों के बारे में डा. आंबेडकर के दृष्टिकोण से परिचित थी। उन्हें पता था कि डा. आंबेडकर खुले शब्दों में हिन्दू धर्म छोड़ने का फैसला दे चुके थे। डा. आंबेडकर से इस भाषण को कम करने की अपेक्षा ही नहीं करनी चाहिए थी। समिति ने जनता को एक ऐसे व्यक्ति के विचार सुनने से वंचित किया है जिसने अपने लिए समाज में एक अद्वितीय स्थान बना लिया है। चाहे वह भविष्य में कोई भी आवरण ओढ़ लें डा. आंबेडकर अपने आपको भुलाने का अवसर नहीं देंगे।

स्वागत समिति डा. आंबेडकर को पराजित नहीं कर पाई। उन्होंने यह भाषण अपने खर्चे पर प्रकाशित करके प्रत्युत्तर दे दिया है। उन्होंने प्रकाशित भाषण की कीमत आठ आना रखी। मेरा सुझाव है कि इसकी कीमत घटाकर दो आना नहीं तो कम से कम चार आना कर दी जाए।

कोई भी सुधारक इस भाषण की उपेक्षा नहीं कर सकता। रूढ़िवादी लोग इसे पढ़कर लाभान्वित होंगे। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भाषण पर आपत्ति उठाने का अवसर खुला नहीं है। **डा. आंबेडकर हिन्दू धर्म के लिए एक चुनौती हैं।** एक हिन्दू के रूप में उनका पालन पोषण हुआ एक हिन्दू राजा द्वारा पढ़ाये गये। लेकिन वह तथाकथित सवर्णों से घृणा करते हैं क्योंकि उन्होंने उनके साथ एवं उनके लोगों के साथ इतना दुर्व्यवहार किया है कि डा. आंबेडकर ने उसी धर्म को छोड़ने का फैसला कर लिया है, जो सबकी सामूहिक धरोहर है। उन्होंने अपनी घृणा को उस धर्म के मानने वालों के एक हिस्से से विरूद्ध मोड़ दिया है।

लेकिन इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए। आखिर **किसी व्यवस्था या संस्था**

की परख उसके प्रतिनिधियों के व्यवहार से की जा सकती है। उसके अतिरिक्त डा. आंबेडकर ने पाया कि सवर्ण हिंदुओं के बहुमत ने अपने सह धर्मावलंबियों के साथ उनको अछूत मानकर धर्मशास्त्रीय आधार पर अमानवीय व्यहार किया है और जब उन्होंने खोज की तो छुआ-छूत और उसके उपलक्षणों को मानने वालों के विरूद्ध बहुत अधिक प्रमाण उन्हें मिले। **भाषण के लेखक ने अपने कथन के समर्थन में अध्याय और श्लोकों के प्रमाण देकर तीन आरोप लगाए है पहला अमानवीय व्यवहार करना, दूसरा अत्याचार करने वालों ने निर्लज्जता से उसे सही बताया और तीसरा यह कहना कि धर्म शास्त्रों में ऐसे व्यवहार को उचित माना गया है।**

कोई भी हिंदू जो अपनी आस्था को जीवन से अधिक मानता है वह दोषारोपण के महत्व को कम करके आंकलन नहीं कर सकता है। **डा. आंबेडकर इस अमानवीय व्यवहार से घृणा करने वाले अकेले व्यक्ति नहीं हैं। लेकिन वह इसके सबसे अधिक दृढ़ प्रतिज्ञ प्रतिपादक है तथा इसका प्रतिपादन करने वालों में सबसे योग्य व्यक्ति हैं। वह इन सब में निस्संदेह सबसे विरोधी व्यक्ति हैं।** भगवान का धन्यवाद है कि अगली पंक्ति के नेता में वे सबसे अकेले हैं और तब भी वे थोड़े से अल्पसंख्यक लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं लेकिन जो भी वे कहते हैं वह थोड़ा कम या ज्यादा जोर से दलित वर्ग के नेताओं द्वारा दोहराया जाता है। उदाहरण के लिए रायबहादुर एम.सी. राजा तथा दीवान बहादुर श्रीनिवास न केवल हिंदू धर्म छोड़ देने की धमकी देते हैं बल्कि हरिजनों के बहुत बड़े वर्ग के शर्मनाक उत्पीड़न की क्षतिपूर्ति के लिए इसको उत्साहजनक पाते हैं।

हम यह नहीं कह सकते हैं कि यह तथ्य ध्यान देने योग्य नहीं है क्योंकि कई नेता डा. आंबेडकर के कथन की अवहेलना कर हिंदू बनें रहेंगे। सवर्णों को अपनी मान्यता तथा व्यवहार को सही करना होगा। सवर्णों में विद्वान हैं तथा प्रभावशाली हैं उन्हें धर्म शास्त्रों की अधिकृत तथा सही व्याख्या करनी होगी। डाआंबेडकर के अभियोग पत्र ने जो प्रश्न उठाए हैं वे इस प्रकार हैं:-

(1) धर्मशास्त्र क्या हैं?

(2) क्या छपे हुए मूलपाठ को धमशास्त्रों का अंगभूत हिस्सा माना जाए या इसके किसी हिस्से को अनाधिकृत रूप से अस्वीकृत माना जाये?

(3) छुआ-छूत, जाति, प्रतिष्ठा की समानता, रोटी-बेटी के संबंध में प्रश्न पर धर्म शास्त्रों के मान्य व परिशोधित अंश का क्या उत्तर दिया जाये? (इन सब प्रश्नों का डा. आंबेडकर ने अपने भाषण में विशद निवेचन किया है)।

इन प्रश्नों के उत्तर तथा डा. आंबेडकर के शोधपूर्ण भाषण में निहित कुछ दोषों पर मैं अपना वक्तव्य अगले अंक में दूंगा।

(हरिजन 11 जुलाई 1936)

(2)

रामायण और महाभारत सहित वेद, उपनिषद, स्मृतियां और पुराण हिन्दू धर्म शास्त्र हैं लेकिन यही अंतिम सूची नहीं है। **प्रत्येक युग और पीढ़ी ने इस सूची में कुछ न कुछ जोड़ा है।** इससे निष्कर्ष निकलता है कि जो कुछ छपा है या हाथ से लिखा गया है वही धर्म शास्त्र नहीं है। उदाहरण के लिए **स्मृतियों में बहुत कुछ है लेकिन उसे ईश्वर की वाणी नहीं स्वीकार किया जा सकता है।** इस प्रकार कई उदाहरण जो डा. आंबेडकर ने स्मृतियों से दिए हैं, उन्हें अधिकृत नहीं माना जा सकता। सही धर्म ग्रंथ उन्हें ही कहा जा सकता जो शाश्वत हैं तथा अंत: करण को छूते हैं अर्थात उन लोगों के हृदय को आकर्षित करते हैं जिनके ज्ञान चक्षु खुले हों। उसे ईश्वर की वाणी नहीं माना जा सकता जो तर्क की कसौटी पर खरी न उतरे या जिसे आध्यात्मिक प्रयोग में न लाया जा सके और यदि आपके पास धर्मग्रंथ का परिशोधित संस्करण है तो भी आपको उसकी टीका की आवश्यकता पड़ेगी। **सबसे अच्छा टीकाकर कौन है? आवश्यक रूप से विद्वान नहीं हो सकता।** फिर भी विद्वता आवश्यक है लेकिन धर्म विद्वता पर नहीं चलता। धर्म साधु संतों आरै उनके जीवन एवं कथन पर चलता है। **साधु संतों के संचित अनुभव को लोग मानते हैं व युगों तक प्रेरणा पाते हैं जब कि धर्मग्रंथों के सबसे अच्छे विद्वान टीकाकारों को लोग भुला देते हैं।**

जाति का धर्म से कोई मतलब नहीं है। जाति एक रीति रिवाज है जिसके उद्गम को मैं नहीं जानता और न ही अपनी आध्यात्मिक क्षुधा की संतुष्टि के लिए जानना चाहता हूं। लेकिन मैं जानता हूं कि जाति आध्यात्मिक व राष्ट्रीय विकास के लिए हानिकारक है। **वर्ण और आश्रम व्यवस्था ऐसेसी संस्थाए हैं, जिनको जाति से कुछ लेना-देना नहीं है। वर्ण व्यवस्था का नियम सिखाता है कि पैतृक धंधा अपनाकर हम अपनी रोजी-रोटी कमा सकते हैं।** यह हमारे अधिकार को ही नहीं बल्कि कर्तव्य को भी परिभाषित करता है। वर्ण-व्यवस्था अवश्य ही व्यवसाय के संदर्भ में बनी है जो केवल मानवता के कल्याण के लिए है और किसी अन्य के लिए नहीं। इसका अर्थ यह भी है कि कोई भी व्यवसाय न तो अत्यधिक नीचा है न ही अत्यधिक ऊंचा। सारे व्यवसाय अच्छे विधि-सम्मत तथा स्तर में एक दम एक समान हैं। **ब्राह्मण का आध्यात्मिक शिक्षक का व्यवसाय तथा सफाई करने वाले का व्यवसाय एक समान है जो भगवान के सामने परिश्रम के अधिकारी हैं।** दोनों को जीवनयापन का अधिकार है और

कुछ नहीं। आज भी गांवों में ऐसी विधि-सम्मत स्वस्थ परंपरा जारी है। 600 की आबादी वाले गांव में रहकर मैंने पाया कि ब्राह्मण सहित विभिन्न व्यवसाय में रत लोगों में कोई असमानता नहीं है। मैंने पाया कि आज के बुरे दिनों में ब्राह्मण को सभी खुले हाथ से भीख देते हैं। उसके बदले ब्राह्मण के पास जो भी आध्यात्मिक खजाना है वह उसे बांटता है। **वर्ण-व्यवस्था के विकृत स्वरूप की जांच करना गलत और अनुचित होगा जब उसके नियम का उल्लंघन नकारात्मक माना जाएगा।** वर्ण-व्यवस्था के कानून में छुआछूत की मान्यता निहित नहीं है? (हिन्दू धर्म का सार है कि सत्य ही ईश्वर तथा अहिंसा मानव परिवारों का कानून है)।

मुझे पता है कि हिन्दू धर्म की मेरी इस व्याख्या का डा. आंबेडकर के अलावा कई लोग प्रतिवाद करेंगे। इससे मेरी स्थिति पर कोई फर्क नहीं पड़ेगा। इस व्याख्या के आधार पर मैं लगभग आधी शताब्दी तक जिया हूं तथा मैंने भरसक इन्हीं मान्यताओं को जीवन में उतारने का प्रयास किया है।

मेरे विचार से डा. आंबेडकर ने अपने भाषण में संदेहपूर्ण प्रामाणिकता और मूल्य तथा गिरे हुए हिन्दुओं के शोचनीय मिथ्या निरुपण को जो धर्म के सही उदाहरण नहीं है चुनकर गंभीर गलती की है। जिन मानकों को डा. आंबेडकर ने अपनाया है उससे तो प्रत्येक विद्यमान धर्म संभवत: असफल हो जाएगा।

अपने योग्यतापूर्ण भाषण में डा. आम्बेडकर ने अपने मुद्दे को अत्यधिक सिद्ध करने की कोशिश की है। क्या चैतन्य, ज्ञानदेव, तुकाराम, तिरुवल्लुवर, रामकृष्ण परमहंस, राजा राममोहन राय, महर्षि देवेन्द्र नाथ टैगोर, विवेकानंद व अन्य विद्वानों द्वारा सिखाया धर्म पूरी तरह गुणरहित है जैसा की डा. आंबेडकर ने अपने भाषण में बताया है? कोई धर्म उसके सबसे खराब उदाहरण से नहीं बल्कि सबसे अच्छे परिणाम से परखा जाना चाहिए। यदि हम इसे सुधार न पाए तो केवल इस प्रकार के मानक की आकांक्षा ही की जा सकती है।

(हरिजन, 18 जुलाई 1936)

वर्ण बनाम जाति

(3)

माननीय संतराम जी जातपांत तोडक मंडल लाहौर ने इच्छा व्यक्त की कि उनका निम्नलिखित व्यक्तव्य प्रकाशित किया जाए:

मैंने डा. आंबेडकर और जातपांत तोडक मंडल लाहौर के बारे में आपकी टिप्पणी पढ़ी। इस संबंध में मैं निवेदन करना चाहता हूं:

"हमने डा. आंबेडकर को अपने सम्मेलन की अध्यक्षता करने के लिए नहीं बुलाया क्योंकि वे दलित वर्ग के हैं, चूंकि हम लोग छूत और अछूत में भेद नहीं करते हैं। इसके विपरीत हमने डा. आंबेडकर का चुनाव इसलिए किया कि हिन्दू समाज की गंभीर बीमारी का निदान उनका और हमारा एक जैसा है अर्थात उनका भी यही मत था कि हिन्दुओं में विघटन और पतन का मूल कारण जाति-व्यवस्था है। डाक्टर आंबेडकर की डॉक्टरेट की थीसिस का विषय भी जाति व्यवस्था था उन्होंने इस विषय पर संपूर्ण रूप से अध्ययन किया हुआ था। हमारे सम्मेलन का उद्देश्य जाति व्यवस्था समाप्त करने के लिए हिन्दुओं को राजी करना था लेकिन एक गैर-हिन्दू की सामाजिक और धार्मिक मामलों में सलाह कोई प्रभाव नहीं डाल सकती। डॉक्टर अपने भाषण के पूरक भाग में यह बात कहने पर अड़े रहे कि हिन्दू के रूप में उनका यह अंतिम भाषण है जो सम्मेलन के हित में अप्रासंगिक और घातक था। इसलिए हमने उनसे निवेदन किया था कि वे अपने भाषण से वह वाक्य निकाल दें, क्योंकि वही बात कहने के लिए उन्हें कोई अन्य अवसर भी मिल सकते थे लेकिन उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया और हमने अपने कार्यक्रम को मात्र दिखावा बनाना उचित नहीं समझा। इस सबके बावजूद **उनके भाषण की मैं प्रशंसा करता हूं क्योंकि इस विषय पर यह सबसे विद्वतापूर्ण थीसिस है जिसका अन्य सभी भारतीय भाषाओं में अनुवाद होना चाहिए।**

इसके अलावा मैं इस ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं कि जाति और वर्ण में जो आपने दार्शनिक अंतर बताया है वह इतना अधिक सूक्ष्म है जो आम आदमी की समझ में नहीं आता है क्योंकि **व्यावहारिक दृष्टि में जाति और वर्ण एक ही चीज हैं। चूंकि दोनों का कृत्य एक समान है अर्थात अंर्तजातीय विवाह और सहभोज पर रोक।** आपका वर्ण-व्यवस्था का सिद्धांत वर्तमान में अव्यावहारिक है और निकट भविष्य में इसके पुनरूत्थान की कोई आशा नहीं है। आप हिन्दू जाति के गुलाम हैं तथा इसे नष्ट नहीं करना चाहते। अतः आप काल्पनिक वर्ण-व्यवस्था की वकालत करते हैं तो वे जाति से चिपकने को न्यासंगत पाते हैं। इस **प्रकार आप वर्ण भेद की उपयोगिता से समाज सुधार को क्षति पहुंचा रहे हैं क्योंकि इससे हमारे रास्ते में रोड़ा अटकता है। वर्ण-व्यवस्था की जड़ पर हमला किए बिना छुआछूत मिटाने की कोशिश करना रोग के बाहरी लक्षणों का इलाज करने या पानी की सतह पर लकीर खींचने जैसा है।** द्विज लोग हृदय के किसी कोने से भी तथाकथित छूत और अछूत शूद्रों को सामाजिक समानता नहीं देना चाहते हैं इसलिए वे जाति को तोड़ने तथा छुआ-छूत को मिटाने में उदारता दिखाने से इंकार करते है जिसका साधारण अर्थ है कि वे इस मुद्दे से बचना चाहता हैं। छुआछूत मिटाने के लिए शास्त्रों की मदद लेने का अर्थ

है कीचड़ से कीचड़ साफ करना।"

माननीय संतराम जी के पत्र का प्रथम पैराग्राफ अंतिम पैरे को रद्द करता है। यदि मंडल शास्त्रों की मदद लेना अस्वीकार करता है तो वह बिल्कुल वही कर रहा है जो डा. आंबेडकर कर रहे हैं। अर्थात हिन्दू न बने रहने तक कैसे वह डा. आंबेडकर के भाषण पर आपत्ति उठा सकते हैं जिसमें उन्होंने कहा है कि हिन्दू के रूप में उनका यह अंतिम भाषण है? स्थिति पूरी तरह अतर्क-संगत हो जाती है, विशेष तौर पर जब मंडल के प्रवक्ता बनने का दावा करते हुए माननीय संतराम डा. आंबेडकर के भाषण के तर्कों की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं।

यहां यह पूछना उचित है कि यदि मंडल शास्त्रों को अस्वीकार करता है तो मंडल किस बात में विश्वास रखता है। कुरान को अस्वीकार कर कोई मुसलमान कैसे बना रह सकता है और बाईबल को अस्वीकार कर कोई ईसाई कैसे बना रहता सकता है? यदि जाति और वर्ण एक दूसरे के पर्याय है और वर्ण शास्त्रों का अंगभूत हिस्सा है जिसमें हिन्दूधर्म की परिभाषा निहित है तो मैं नहीं समझता कि जाति अर्थात् वर्ण को अस्वीकार कर कोई हिन्दू कैसे कहला सकता है।

माननीय संतराम शास्त्रों को कीचड़ मानते हैं। जहां तक मुझे याद है डा. आंबेडकर ने शास्त्रों को ऐसा विलक्षण नाम नहीं दिया है। मेरा अर्थ निश्चित रूप से यही है कि यदि शास्त्र छुआ-छूत का समर्थन करते हैं तो मैं अपने को हिन्दू कहलाना नहीं चाहूंगा। इसी प्रकार यदि शास्त्र जाति का समर्थन करते हैं तो मैं अपने आपको हिन्दू कहलाना या रहना नहीं चाहूंगा। क्योंकि सहभोज और अंतर्जातीय विवाह से मुझे बिल्कुल भी संकोच नहीं है। मैं शास्त्र और उसकी व्याख्या के बारे में अपनी स्थिति को दोहराना नहीं चाहता हूं। मैं माननीय संतराम को साहसिक सुझाव देना चाहता हूं कि यही तर्कपूर्ण सही और नैतिक रक्षात्मक स्थिति है और हिन्दू परम्परा से इसे उचित प्रामाणिक सिद्ध करने का आधार मौजूद है।

(हरिजन, 15 अगस्त 1936)

परिशिष्ट II

डॉ. भीमराव आंबेडकर द्वारा गांधी को उत्तर

(1)

मैं गांधी का बड़ा आभारी हूं कि उन्होंने जाति पर जातपांत तोडक मंडल के लिए लिखे गए मेरे भाषण पर अपने समाचार पत्र 'हरिजन' में विचार व्यक्त करके मुझे सम्मानित किया है। मेरे भाषण के पुनरावलोकन से पता चलता है कि गांधी मेरे जाति पर

व्यक्त किए गए विचारों से पूरी तरह असहमत हैं। मैं अपने विरोधियों के वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहता हूं जब तक अन्यथा कार्यवाही करने के विशेष कारण मुझे मजबूर न करें। यदि मेरा विरोधी क्षुद्र और अज्ञात व्यक्ति होता तो मैं उसके पीछे नहीं पड़ता। लेकिन मेरे विरोधी गांधी स्वयं हैं इसलिए मैं महसूस करता हूं कि मुझे उन मुद्दों का प्रत्युत्तर देने का प्रयास अवश्य करना चाहिए जो उन्होंने उठाए हैं। यद्यापि मैं आभारी हूं उन्होंने मेरा सम्मान किया है मुझे इस बात पर आश्चर्य है कि गांधी ने मुझ पर आरोप लगाया है कि भाषण न देने के बाद भी भाषण इसलिए प्रकाशित किया है कि मेरा प्रचार हो और लोग मुझे भूल न जाएं। गांधी चाहे जो कहें **भाषण प्रकाशित करने का मेरा उद्देश्य केवल यह था कि हिन्दू सोचें और अपनी स्थिति को जानें।** अगर मैं ऐसा कहूं कि मैं अपने प्रचार के पीछे नहीं हूं क्योंकि मेरी इच्छा और आवश्यकता से अधिक मेरी प्रसिद्धि पहले से ही है लेकिन यदि मान भी लिया जाए कि मैंने प्रसिद्धि पाने के उद्देश्य से भाषण छापा है तो **मेरे ऊपर पत्थर कौन फेंक सकता है? निश्चित रूप से वे नहीं जो गांधी की तरह कांच के मकान में रहते हैं।**

(2)

प्रयोजन के अलावा भाषण में उठाए गए प्रश्न के बारे में गांधी को क्या कहना है? पहली बात यह है कि **जो भी मेरा भाषण पढ़ेगा उसे अहसास होगा कि गांधी ने मेरे द्वारा उठाए गए मुद्दों को पूरी तरह छोड़ दिया है** और उन्होंने जो मुद्दे उठाए हैं, वे मुद्दे उस भाषण से उत्पन्न नहीं होते जिसे उन्होंने हिन्दुओं के लिए मेरा अभियोग पत्र बताने में प्रसन्नता अनुभव की है। प्रमुख मुद्दे जिन्हें मैंने अपने भाषण में उठाए हैं, उनको निम्नलिखित रूप में सूचीबद्ध किया जा सकता है।

(1) यह कि जाति ने हिन्दुओं को बर्बाद किया है।

(2) यह कि हिन्दू समाज को चातुर्वर्ण्य के आधार पर पुनर्गठित करना असंभव है क्योंकि वर्ण-व्यवस्था रिसते हुए एक बर्तन की तरह है या उस आदमी की तरह है जो नाक की सीध में दौड़ रहा है। **यह अपने गुणों के कारण अपने को कायम रखने में अक्षम है** तथा इसमें जाति-व्यवस्था के रूप में विकृत हो जाने की प्रवृत्ति अंतर्निहित है जब तक कि वर्ण का उल्लंघन करने पर कानूनी रोक नहीं लगती।

(3) यह कि चातुर्वर्ण्य के आधार पर हिन्दू समाज को पुनर्गठित करना हानिकारक है क्योंकि वर्ण-व्यवस्था ज्ञान प्राप्त करने के अवसर से वंचित कर लोगों को निम्नकोटि का बनाती है तथा अस्त्र धारण करने से वंचित कर उन्हें दुर्बल बनाती है।

(4) यह कि हिन्दू समाज को ऐसे धर्म के आधार पर पुनर्गठित करना

चाहिए जिसमें स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धांत को मान्यता दी जाए।

(5) यह कि इस लक्ष्य को पाने के लिए जाति और वर्ण के पीछे धार्मिक पवित्रता की भावना को नष्ट किया जाना चाहिए।

(6) यह कि **जाति और वर्ण की पवित्रता केवल तभी नष्ट हो सकती है जब शास्त्रों की दिव्य सत्ता को अलग कर दिया जाए।** ऐसा देखा गया है कि गांधी द्वारा उठाये गए प्रश्न मुद्दे से बिल्कुल अलग है जिससे भाषण के मुख्य तर्क उसमें खो गए थे।

(3)

मैं गांधी द्वारा उठाए गए प्रश्न के सार को जांचना चाहूंगा। गांधी ने पहला प्रश्न उठाया है कि मेरे द्वारा उद्धृत उदाहरण प्रामाणिक नहीं हैं। मैं स्वीकार करता हूं कि मैं इस विषय का विशेषज्ञ नहीं हूं। लेकिन मैं कहना चाहूंगा कि जो उदाहरण मैंने उद्धत किए हैं वे मा. तिलक के लेखों से लिए गए हैं जो संस्कृत भाषा और हिन्दू शास्त्रों के जाने-माने विद्वान थे। उन्होंने दूसरी बात यह कही है कि शास्त्र की व्याख्या विद्वानों द्वारा नहीं बल्कि संतों द्वारा की जानी चाहिए और जैसा संतों ने समझा है कि शास्त्र जातपांत और छुआछूत का समर्थन नहीं करते हैं। पहले प्रश्न के बारे में मैं गांधी से पूछना चाहता हूं कि इससे किसी को क्या लाभ या हानि होगी यदि गद्यांश अंतर्वेशित है और संतों द्वारा उनकी व्याख्या अलग-अलग की गई है। आम लोग असली मूलपाठ और अंतर्वेशित मूलपाठ में अंतर नहीं कर पाते हैं। **आम लोग यह भी नहीं जानते कि शास्त्रों के मूलपाठ क्या हैं। वे इतने अनपढ़ हैं कि शास्त्रों में क्या लिखा है यह भी नहीं जानते। जो उनसे कहा जाता है वे उसी पर विश्वास कर लेते हैं और उनसे कहा गया है कि शास्त्रों में जाति और छुआछूत की प्रथा को धार्मिक कर्तव्य माना गया है।**

जहां तक संतों का प्रश्न है तो मानना पड़ेगा कि विद्वान लोगों की तुलना में संतों के उपदेश कितने ही अलग और उच्च हों वे शोचनीय रूप से निष्प्रभावी रहे हैं। वे निष्प्रभावी दो कारणों से रहे हैं। **पहला किसी भी संत ने जाति व्यवस्था पर कभी भी हमला नहीं किया। इसके विपरीत वे जाति व्यवस्था के पक्के विश्वासी रहे हैं। उनमें से अधिकतर उसी जाति के होकर जिए और मरे जिस जाति के वे थे।** ज्ञानदेव ब्राह्मण के रूप में अपनी प्रतिष्ठा से इतने उत्कृष्ट रूप से जुड़े हुए थे कि जब पैंठन के ब्राह्मणों ने उन्हें समाज में बने रहने से इंकार कर दिया तो उन्होंने ब्राह्मणों के पद की मान्यता पाने के लिए जमीन आसमान एक कर दिया था और संत एकनाथ जो अछूतों को छूने तथा उनके साथ भोजन करने का साहस दिखाने के लिए फिल्म "धर्मात्मा" के

नायक जैसे बने हुए हैं उन्होंने ऐसा इसलिए नहीं किया कि वे जाति और छुआछूत के विरूद्ध थे जबकि उनकी मान्यता यह थी कि (अंत्यजाचा विटाळ ज्यासी। गंगास्नाने शुद्धत्व त्यासी- एकनाथी भागवत, अ.28, ओ 191) प्रदूषण को पवित्र गंगा नदी में स्नान कर धोया जा सकता है। जहां तक मेरा अध्ययन है **किसी भी संत ने जाति और छुआछूत के विरूद्ध कोई अभियान नहीं चलाया। मनुष्यों के बीच चल रहे संघर्ष से वे चिंतित नहीं थे। वे मनुष्य और ईश्वर के बीच संबंध के लिए ही चिंतित थे। उन्होंने यह शिक्षा नहीं दी कि सभी मनुष्य बराबर हैं।** यह एक बहुत अलग और बहुत अहानिकर प्रस्ताव है जिसकी शिक्षा देने में किसी को कोई परेशानी नहीं होगी या जिसके मानने में कोई खतरा नहीं है। दूसरा कारण यह है कि **संतों की शिक्षा प्रभावहीन रही है क्योंकि लोगों को पढ़ाया गया है कि संत जाति का बंधन तोड़ सकते हैं लेकिन आम आदमी ये बंधन नहीं तोड़ सकता। इसलिए संत अनुसरण करने का उदाहरण नहीं बने।** वह सम्मान योग्य धर्मपरायण व्यक्ति बने रहे। लोग जाति और छुआछूत में पक्का विश्वास करते हैं। यह दर्शाता है कि शास्त्रों की शिक्षाओं के विरूद्ध धर्मपरायण जीवन तथा आदर्शपूर्ण उपदेशों का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। इस प्रकार इस बात से कोई सांत्वना नहीं मिलती कि **संत थे या एक गांधी हैं जो शास्त्रों को थोड़े से विद्वानों और कई अज्ञानियों से अलग तरीके से समझते हैं।** यह कि आम लोग जो शास्त्रों के बारे में गलत विचार रखते हैं उसी तथ्य को ही ध्यान में रखना चाहिए और उसी को ध्यान में रखना पड़ेगा। शास्त्रों की सत्ता को समाप्त किए बिना और कैसा व्यवहार किया जाए जो आज भी लोगों के आचरण को संचालित करते हैं इस प्रश्न पर गांधी ने विचार नहीं किया है लेकिन शास्त्रों की जकड़ से मुक्त कराने की जो भी प्रभावशाली योजना गांधी बताएं उन्हें यह मानना चाहिए कि किसी संत के धर्मपरायण जीवन से वह स्वयं ऊंचे उठ सकते हैं लेकिन **आम आदमी की संत और महात्माओं के प्रति यही मनोवृति है कि वे उनका सम्मान करते हैं लेकिन अनुसरण नहीं करते।** इससे कोई कुछ अधिक नहीं कर सकता।

(4)

तीसरा प्रश्न गांधी ने उठाया है कि चैतन्य, ज्ञानदेव, तुकाराम, तिरुवल्लुवर, रामकृष्ण परमहंस इत्यादि द्वारा ज्ञापित धर्म गुण रहित नहीं हो सकता जैसा कि मैंने बताया है और यह कि किसी भी धर्म को सबसे खराब नमूने से नहीं बल्कि सबसे अच्छे परिणाम से परखना होगा। मैं इस वक्तव्य के प्रत्येक शब्द से सहमत हूं। लेकिन मैं बिल्कुल नहीं समझ पाया कि गांधी इससे क्या सिद्ध करना चाहते हैं। यह सत्य है कि धर्म को सबसे खराब नमूने से नहीं बल्कि सबसे अच्छे से परखना चाहिए लेकिन क्या मामला यहीं

समाप्त हो जाता है? मैं कहता हूं नहीं। प्रश्न अभी भी उठता है कि सबसे खराब इतने अधिक क्यों है और सबसे अच्छे इतने थोड़े से क्यों? मेरे दिमाग से इसको दो उत्तर हैं:

(1) कुछ अपने मूल दुराग्रह के कारण सबसे खराब हैं जो नैतिक रूप से शिक्षणीय नहीं हैं इसलिए धर्म के आदर्श दूर-दूर तक पहुंचने में अक्षम हैं।

(2) धर्म का आदर्श पूरी तरह गलत आदर्श है जिसने बहुजनों के जीवन में गलत नैतिक मोड़ दिया है और गलत आदर्श के बावजूद सबसे अच्छे लोग बने रहे वास्तव में गलत मोड़ को सही दिशा की ओर मोड़ दिया है।

इन दो स्पष्टीकरणों में से मैं पहले को मानने के लिए तैयार नहीं हूं और मुझे विश्वास है कि गांधी भी इसके विपरीत जाने को जोर नहीं देंगे। मेरे विचार में दूसरा स्पष्टीकरण ही तर्कपूर्ण और उचित है जब तक कि गांधी के पास कोई तीसरा विकल्प यह समझाने के लिए न हो कि **सबसे खराब इतने अधिक क्यों है और सबसे अच्छे इतने थोड़े से क्यों हैं।** यदि दूसरा स्पष्टीकरण ही एकमात्र स्पष्टीकरण है तब स्पष्ट रूप से गांधी का यह कथन कि धर्म की परख उसमें सबसे अच्छे मानने वालों से होती है हमको कहीं नहीं ले जाता है सिवाय इसके कि **उन बहुत से लोगों पर दया आती है जो गलत हो गए हैं क्योंकि वे गलत आदर्शों की पूजा करने को बाध्य हैं।**

(5)

गांधी ने तर्क दिया है कि यदि संतों के उदाहरण को अपनाएं तो हिन्दू धर्म सहनीय हो जाएगा।* गांधी का यह तर्क भी अन्य कारण से गलत सिद्ध होता है। चैतन्य जैसे सुविख्यात संत का नाम लेकर मोटे और सबसे सरल तरीके से **गांधी सुझाव देना चाहते हैं कि ढांचे में मूलभूत परिवर्तन किए बिना हिन्दू समाज सहनीय और खुशहाल हो सकता है, यदि बड़ी जाति के हिन्दुओं को इस बात के लिए राजी किया जाए कि वे छोटी जाति के हिन्दू से व्यवहार करते समय उच्च स्तर की नैतिकता अपनाएंगे। मैं इस विचारधारा का पूरी तरह विरोधी हूं।** मैं उस बड़ी जाति के हिन्दू का सम्मान करता हूं जो अपने जीवन में उच्च सामाजिक आदर्श अपनाने की कोशिश करते हैं। ऐसे लोगों के बिना भारत में रहना आज से भी अधिक भद्दा और कम खुशहाल होगा। फिर भी जो इस बात पर निर्भर है कि वह बड़ी जाति के हिन्दू को एक अच्छा इंसान बनाएंगे तथा व्यक्तिगत चरित्र सुधारेंगे वह मेरे विचार से अपनी शक्ति बर्बाद कर रहा है और एक भ्रम पाले हुए है। क्या व्यक्तिगत चरित्र शस्त्र बनाने वाले को एक

*इस सबंध में माननीय एच.एन. बेल्सफोर द्वारा लिखित भव्य लेख मोरालिटी एंड द सोशल स्ट्रकचर (नैतिकता एवं सामाजिक संरचना) देखें, जो अप्रैल 1936 के 'आर्य पथ' में प्रकाशित हुआ है।

अच्छा आदमी बना सकता है अर्थात जो आदमी गोला बेचता हो वह ऐसा गोला बनाए जो न फटे और गैस जहर न फैलाए? अगर ऐसा नहीं हो सकता तो **आप कैसे मान सकते हैं कि जाति की चेतना से भरा व्यक्ति अपने व्यक्तिगत चरित्र के कारण अच्छा व्यक्ति हो सकता है अर्थात वह व्यक्ति अपने साथियों के साथ मित्रता तक समान व्यवहार कैसे करेगा? सच बात यह है कि वह अपने साथियों को जाति के आधार पर ऊंच और नीच मानेगा। किसी भी हालत में वह अपनी जाति वालों से जैसा बर्ताव करेगा वैसा दूसरा से नहीं करेगा।** उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह अपने साथियों के साथ रिश्तेदारों जैसा बर्ताव करेगा और उन्हें समान मानेगा। सच बात तो यह है कि **हिन्दू अपनी जाति के बाहर वाले व्यक्ति को पराया मानता है उसके साथ भेदभाव करके भी दंड मुक्त रह सकता है और बिना शर्म किए उसके साथ धोखा कर सकता है या दाव-पेंच खेल सकता है।** कहने का मतलब है कि बेहतर और बदतर हिन्दू मिल सकता हैं लेकिन एक अच्छा हिन्दू नहीं मिल सकता। ऐसा इसलिए नहीं है कि उसके व्यक्तिगत चरित्र में कोई कमी है। असल में अपने साथियों के साथ उसके संबंधों का आधार ही गलत है। सबसे अच्छा आदमी भी सदाचारी नहीं माना जा सकता अगर उसका उसके साथियों के साथ संबंधों का आधार ही मूलभूत रूप से गलत है। एक गुलाम के लिए उसका मालिक बेहतर या बदतर हो सकता है लेकिन मालिक अच्छा नहीं हो सकता। अच्छा आदमी मालिक नहीं हो सकता और मालिक अच्छा आदमी नहीं हो सकता। यही ऊंची जाति और नीची जाति के संबंधों के बीच लागू होता है। अन्य ऊंची जातियों के लोगों की तुलना में नीची जाति के व्यक्ति के लिए ऊंची जाति का आदमी बेहतर या बदतर हो सकता है। **ऊंची जाति का व्यक्ति अच्छा नहीं हो सकता जब तक उसके पास ऊंची जाति का भेद करने के लिए छोटी जाति मौजूद है।** छोटी जाति के लिए यह अच्छा नहीं है कि उसकी चेतना में यह बात बैठी है कि उसके ऊपर बड़ी जाति है। मैंने अपने भाषण में दलील दी थी कि वर्ण और जाति पर आधारित समाज एक ऐसा समाज है जो गलत संबंधों पर आधारित है। मैंने आशा की थी कि गांधी मेरी दलीलों को नष्ट कर देंगे। लेकिन ऐसा करने की बजाए उन्होंने पृष्ठभूमि बताए बिना केवल चातुर्वर्ण्य में अपना विश्वास दोहराया है।

(6)

गांधी जो उपदेश देते हैं क्या उसी के अनुसार आचरण करते है? जिस बहस का व्यापक रूप में प्रयोग होता है उसमें व्यक्तिगत उल्लेख पसंद नहीं किया जाता है लेकिन **जब कोई किसी सिद्धांत का उपदेश देता है और धर्म सिद्धांत मानकर उसे धारण कर लेता है तो यह उत्सुकता पैदा होती है कि वह जो उपदेश देता है, उस**

पर कितना आचरण करता है। हो सकता है कि उसे प्राप्त करना संभव नहीं है। आचरण करने में असफलता का कारण व्यक्ति का अंतर्जातीय पाखंड भी हो सकता है और मुझे दोष नहीं दिया जाना चाहिए यदि मैं पूछूं कि अपने आदर्श को उन्होंने अपने जीवन में उतारने के लिए कितना प्रयास किया है। गांधी जन्म से बनिया हैं। उनके पूर्वजों ने मंत्री पद पाने के लिए व्यापार करना छोड़ दिया था जो कि ब्राह्मण का पेशा है। अपने जीवन में गांधी बनने से पहले जब पेशा चुनने का अवसर आया तो उन्होंने तराजू की बजाए वकालत को प्राथमिकता दी। व्यापार का परित्याग कर जो उनका पैतृक पेशा है। उनका सबसे छोटा पुत्र मैं केवल उस पुत्र की बात कर रहा हूं जो अपने पिता का अनुयायी है जो वैश्य के घर में जन्मा लेकिन उसने एक ब्राह्मण लड़की से विवाह किया तथा जिसने एक बड़े पूंजीपति के समाचार पत्र में नौकरी को चुना है। ऐसी जानकारी नहीं है कि गांधी ने पैतृक पेशा न अपनाने के लिए उसकी कभी भी निंदा की हो। किसी आदर्श को उसके सबसे खराब नमूने से परखना गलत होगा और यह उदारता नहीं होगी। लेकिन निःसंदेह गांधी के पास इससे बेहतर नमूना नहीं है और यदि वह इस आदर्श को अपनाने में असफल होते हैं तो यह आदर्श एक असंभव आदर्श है जो आदमी की व्यावहारिक मूल प्रवृत्तियों के बिल्कुल विपरीत है। कार्लाइल के विद्यार्थी जानते हैं कि किसी विषय पर सोचने से पहले वे उस पर बोलते थे। क्या जाति के मामले में गांधी के साथ ऐसा नहीं हुआ होगा। अन्यथा जो प्रश्न मेरे मन में आते हैं वे उनसे छूटे नहीं होते। कोई भी पेशा कब पैतृक पेशा बन जाता है जिसे अपनाना आदमी के लिए बाध्यकारी हो जाए? क्या व्यक्ति को अपना पैतृक पेशा ही अपनाना चाहिए चाहे वह क्षमता के अनुकूल और लाभकारी नहीं हो? क्या आदमी को अपना पैतृक पेशा ही अपनाना चाहिए चाहे वह अनैतिक पेशा ही क्यों न हो? यदि प्रत्येक को अपना पैतृक पेशा ही जारी रखना पड़े तो इसका अर्थ होगा कि किसी आदमी को दलाल का पेशा इसलिए जारी रखना पड़ेगा क्योंकि उसके दादा दलाल थे और किसी औरत को इसलिए वैश्या का पेशा अपनाना पड़ेगा क्योंकि उसकी दादी एक वैश्या थी। क्या गांधी अपने सिद्धांत के इस तार्किक परिणाम को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं? मेरे लिए उनका पैतृक पेशा अपनाने का आदर्श न केवल असंभव बल्कि अव्यावहारिक आदर्श भी है उसके अलावा नैतिक रूप से भी यह अरक्षणी आदर्श है।

(7)

गांधी जीवन भर ब्राह्मण बने रहने में महान उत्कर्ष देखते हैं। इस तथ्य को छोड़ भी दिया जाए तो ऐसे कई ब्राह्मण हैं, जो जीवन भर ब्राह्मण बने रहना नहीं चाहतें। हम उन ब्राह्मणों के बारे में क्या कहे जो अपनी पुरोहिताई का पैतृक पेशा अपना लेते हैं? क्या

वे पैतृक पेशा अपनाने के सिद्धांत की वजह से ऐसा करते हैं या गंदे आर्थिक लाभ के इरादे से ऐसा करते हैं? गांधी इन प्रश्नों से चिंतित प्रतीत नहीं होते। वह इस बात से संतुष्ट हैं कि सच्चे ब्राह्मण वे हैं जो मुफ्त में उन्हें दी जा रही भिक्षा पर जीते हैं और जितना भी उनके पास आध्यात्मिक खजाना है उसे वे मुफ्त में बांट रहे हैं। पुश्तैनी ब्राह्मण के अन्य चित्र भी खींचे जा सकते हैं कोई ब्राह्मण विष्णु का पुजारी हो सकता है जो प्रेम के देवता हैं। वह शंकर का पुजारी भी हो सकता है जो विनाश के देवता हैं। वह बोध गया में भी पुजारी हो सकता है और बुद्ध की पूजा कर सकता है जो मानवता के महानतम् शिक्षक हैं जिन्होंने सबसे श्रेष्ठ सिद्धांत प्रेम का पाठ पढ़ाया है। वह काली का पुजारी भी हो सकता जो ऐसी देवी है जिसकी खून की प्यास बुझाने के लिए रोज एक पशु की बलि देनी पड़ती है। वह राम के मंदिर का पुजारी भी होगा जो क्षत्रिय भगवान हैं। वह परशुराम के मंदिर का पुजारी भी हो सकता है जो ऐसा भगवान है जिसने क्षत्रियों का नाश करने के लिए अवतार लिया था। वह ब्रह्मा का पुजारी भी हो सकता है जिसने संसार की रचना की है। वह पीर का पुजारी भी हो सकता है जिसका भगवान अल्ला संसार के ऊपर ब्रह्मा का आध्यात्मिक प्रभुत्व का दावा बर्दास्त नहीं करेगा। कोई यह नहीं कह सकता कि जीवन का यह चित्र सही नहीं है। अगर यह सही चित्र है तो कोई नहीं जानता कि उन देवताओं और देवियों के प्रति भक्ति को धारण करने के बारे में क्या कहा जाए कि उनके लक्षण इतने विरोधात्मक हैं कि कोई ईमानदार व्यक्ति उन सभी का भक्त नहीं हो सकता। हिन्दू लोग इस असाधारण तथ्य को अपने धर्म का महानतम सदगुण मानते हैं जैसे कि इनकी उदारता, इनकी सहनशीलता की भावना। इस सहज दृष्टिकोण के विपरीत कहा जा सकता है कि सहनशीलता और उदारता वास्तव में उदासीन या शिथिल सिद्धांत निरपेक्षता के अलावा और अधिक प्रशंसनीय नहीं है। इन दो प्रवृत्तियों में बाहरी तौर पर भेद करना मुश्किल हैं लेकिन अत्यावश्यक रूप से वास्तविक गुणों में ये इतने अधिक भिन्न है कि गहराई से जांच करने वाला एक दूसरे को एक जैसा मानने की गलती नहीं कर सकता। यह कि **एक व्यक्ति जो बहुत सारे देवी-देवताओं का सम्मान करता है उसे सहनशीलता की भावना का सबूत माना जा सकता है, लेकिन क्या यह समय के साथ चलने की इच्छा से पैदा हुए पाखंड का सबूत नहीं है? मेरी पक्की धारणा है कि यह केवल पाखंड है।** अगर यह दृष्टिकोण अच्छे आधार पर स्थापित है तो कोई पूछ सकता है कि उस व्यक्ति के पास कौन सा आध्यात्मिक खजाना है जो किसी भी देवी-देवता की पूजा और आराधना करने के लिए तैयार है? न केवल ऐसा व्यक्ति आध्यात्मिक खजाने से दिवालिया हो पाया है बल्कि पुजारी के महान पेशे को बिना आस्था और बिना विश्वास के इसलिए अपनाता है क्योंकि साधारणतः वह पैतृक पेशा है

जो एक मशीनी प्रक्रिया के अंतर्गत पीढ़ी दर पीढ़ी अपनाया गया है। यह सद्‌गुणों का सरंक्षण नहीं है यह वास्तव में एक महान पेशे का दुरुपयोग है जो धर्म की सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

(8)

गांधी इस सिद्धांत से क्यों चिपके हुए हैं कि हर व्यक्ति को अपना पैतृक पेशा अपनाना चाहिए। उन्होंने इसका कारण कहीं नहीं बतलाया है लेकिन कोई कारण तो होना चाहिए यद्यपि उन्हें खुलेआम कहने की चिंता नहीं है। वर्षों पहले उन्होंने अपने समाचार पत्र 'यंग इंडिया' में जाति बनाम वर्ण विषय पर लिखते हुए कहा था कि जाति व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था से बेहतर है क्योंकि जाति द्वारा समाज में स्थिरता लाने के लिए सबसे उत्तम और संभव सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। यदि यही कारण है कि गांधी इस विचार से चिपके हुए हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को पैतृक पेशा ही अपनाना चाहिए तो वे सामाजिक जीवन के मिथ्या विचार से चिपके हुए हैं। प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक स्थिरता चाहता है और व्यक्तियों और वर्गों के संबंधों में कुछ सामंजस्य स्थापित होना ही चाहिए जिससे समाज में स्थिरता कायम हो सके। मेरा विश्वास है कि दो बातें कोई भी नहीं चाहता है। पहली बात जो कोई नहीं चाहता वह है निश्चल संबंध कुछ ऐसा जिसे बदला न जा सके कुछ ऐसा जो सार्वकालिक रूप से स्थिर रहे। स्थायित्व भी जरूरी है लेकिन वह बदलाव की कीमत पर नहीं होना चाहिए क्योंकि बदलाव अवश्यंभावी है। दूसरी बात जो कोई नहीं चाहता वह है केवल सामंजस्य। **सामंजस्य की भी आवश्यकता है लेकिन वह सामाजिक न्याय की बलि देकर नहीं किया जाना चाहिए।** क्या यह कहा जा सकता है कि जाति के आधार पर सामंजस्य अर्थात अपने पैतृक व्यवसाय के आधार पर सामंजस्य होने से इन दो बुराईयों से बचना संभव है? मैं मानता हूं कि ऐसा नहीं है। मुझे कोई संदेह नहीं है कि सबसे अच्छे संभव सामंजस्य की बात तो दूर यह सबसे खराब प्रकार का सामंजस्य है क्योंकि यह सामाजिक सामंजस्य के दोनों सिद्धांतों जैसे तरलता और समानता का उल्लंघन करता है।

(9)

कुछ लोग सोचतें हैं कि गांधी ने बहुत प्रगति की है क्योंकि वह अब केवल वर्ण में विश्वास करते हैं और जाति में विश्वास नहीं करते हैं। यह भी सत्य है कि एक समय था जब गांधी पूर्णरूप से कुलीन सनातनी हिन्दू थे। **वह वेदों, उपनिषदों, पुराणों और जो भी हिन्दू ग्रंथ हैं उनमें विश्वास करते थे। इसीलिए अवतारों और पुनर्जन्म में भी विश्वास करते थे। वह जाति में विश्वास करते थे और पूरी शक्ति से एक रुढ़िवादी**

की तरह इसका समर्थन करते थे। उन्होंने सहभोज, सहपान और अंतर्जातीय विवाह की मांग की निंदा की थी और कहा था कि सहभोज का विरोध करना चाहिए, क्योंकि इससे बहुत हद तक इच्छा शक्ति पैदा करने और सामाजिक शुद्धता बनाए रखने में मदद मिलती है। यह अच्छी बात है कि उन्होंने पाखंडपूर्ण मूर्खता का परित्याग कर दिया है और स्वीकार किया है कि जाति आध्यात्मिक और राष्ट्रीय विकास, दोनों के लिए हानिप्रद है और हो सकता है कि उनके पुत्र का जाति के बाहर विवाह इन्हीं विचारों के परिवर्तन की देन है लेकिन क्या गांधी ने वास्तव में प्रगति की है? वर्ण की प्रकृति क्या है जिसे गांधी मानते हैं। क्या वह यही वेदों की धारणा है जिसे दयानंद सरस्वती और उनके अनुयायियों, आर्यसमाजियों ने प्रतिपादित किया है? **वेद में वर्ण की धारणा का सारांश यह है कि व्यक्ति वह पेशा अपनाए जो उसकी स्वाभाविक योग्यता के लिए उपयुक्त हो।** गांधी की वर्ण की धारणा का सार यह है कि व्यक्ति पैतृक पेशा ही अपनाए चाहे वह उसकी स्वाभाविक योग्यता के अनुरूप हो या न हो। **जाति और वर्ण में क्या अंतर है, जो गांधी ने समझा है। मैं कोई अंतर नहीं पाता हूं।** जो परिभाषा गांधी ने दी है उसमें मैं कोई अंतर नहीं पाता हूं। जो परिभाषा गांधी ने दी है उसके अनुसार तो वर्ण ही जाति का दूसरा नाम है इसका सीधा कारण यह है कि **दोनों का सार एक है अर्थात पैतृक पेशा अपनाना।** प्रगति करना तो दूर, गांधी ने अवनति की है। वर्ण की वैदिक धारणा की व्याख्या करके उन्होंने जो उत्कृष्ट था उसे वास्तव में उपहासप्रद बना दिया है। यद्यपि मैं वैदिक वर्ण व्यवस्था को अस्वीकार करता हूं जिसका कारण मैंने अपने भाषण में बताया है लेकिन मैं मानता हूं कि स्वामी दयानंद व कुछ अन्य लोगों ने वर्ण के वैदिक सिद्धांत की जो व्याख्या की है बुद्धिमत्तापूर्ण है और घृणास्पद नहीं है। **मैं यह व्याख्या नहीं मानता कि जन्म किसी व्यक्ति का समाज में स्थान निश्चित करने का निर्धारक तत्व हो।** वह केवल योग्यता को मान्यता देता है। वर्ण के बारे में गांधी के विचार न केवल वैदिक वर्ण को मूर्खतापूर्ण बनाते हैं, बल्कि घृणास्पद भी बनाते हैं। वर्ण और जाति दो अलग-अलग धारणाएं हैं। वर्ण इस सिद्धांत पर टिका हुआ है कि प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुसार, जबकि जाति का सिद्धांत है कि प्रत्येक को उसके जन्म के अनुसार। दोनों में इतना ही अंतर है जितना खड़िया और पनीर में। वास्तव में दोनों विपरीत हैं। **अगर गांधी विश्वास करते हैं जो वह अवश्य करते हैं कि प्रत्येक को अपना पैतृक पेशा अपनाना चाहिए तो निश्चित रूप से जाति की वकालत कर रहे हैं तथा इसको वर्ण व्यवस्था बताकर न केवल परिभाषित झूठ बोल रहे हैं बल्कि बदतर और हैरान करने वाली भ्रांति फैला रहे हैं।** मेरा मानना है कि सारी भ्रांति इस कारण से है कि गांधी की धारणा निश्चित और स्पष्ट नहीं है कि वर्ण क्या है और जाति क्या है तथा हिन्दूवाद

के सरंक्षण के लिए इसमें से किसकी जरूरत है। उन्होंने कहा है और वह आशा करते हैं कि वह अपने विचार बदलने के लिए कोई रहस्यवादी कारण नहीं ढूंढेंगे कि जाति हिन्दू धर्म का सार नहीं है। क्या वे वर्ण को हिन्दू धर्म का सार मानते हैं? अभी भी कोई सुनिश्चित उत्तर नहीं दे सकता है। उनका लेख "डा. आंबेडकर का अभियोग" पढ़ने वाले भी कहेंगे नहीं। अपने लेख में वह नहीं बताते कि वर्ण का धर्म सिद्धांत हिन्दूवादी पंथ का एक आवश्यक हिस्सा है। वर्ण को हिन्दू धर्म का सार बताने की बजाए, वह कहते हैं कि "हिन्दू धर्म का सार इस कथन में निहित है कि एक और केवल एक सत्य ही ईश्वर है और अहिंसा मानव परिवार का एक कानून इसकी सुस्पष्ट स्वीकृति है" लेकिन माननीय संत राम के पत्र के उत्तर में लिखे लेख के पढ़ने वाले 'हां' कहेंगे। उस लेख में उन्होंने कहा है कि एक मुसलमान कैसे मुसलमान रह सकता है यदि वह कुरान को अस्वीकार करता है या एक ईसाई कैसे ईसाई रह सकता है यदि वह बाइबल को अस्वीकार करता है? यदि जाति और वर्ण विनिमय शब्द हैं और यदि वर्ण शास्त्रों का अंगभूत भाग है जो हिन्दू धर्म को परिभाषित करता है तो मैं नहीं जानता कि जाति, अर्थात वर्ण को अस्वीकार करने वाला अपने आपको हिंदू कैसे कहलवा सकता है। फिर यह छलकपट क्यों? गांधी हिचकिचा क्यों रहे हैं? वह किसको प्रसन्न करना चाहते हैं? क्या संत सत्य का अर्थ समझने में असफल हो गए हैं? या क्या राजनीतिज्ञ संत के रास्ते में रोड़ा बन रहे है? गांधी की भ्रांति का वास्तविक कारण क्या इन दो साधनों से पता लगाया जा सकता है? पहला है गांधी का स्वभाव। वह प्रत्येक बात में बच्चे जैसी सरलता और बच्चे जैसा स्वयं को धोखा देने वाला स्वभाव रखते हैं। बच्चे की तरह वह किसी भी बात में जिसे वह चाहते हैं विश्वास करने लगते हैं। इसलिए हमें प्रतीक्षा करनी चाहिए कि उन्होंने जिस तरह जाति में विश्वास करना छोड़ दिया है उसी तरह वे वर्ण में विश्वास करना छोड़ देंगे। दूसरा साधन उनकी गांधी और राजनीतिज्ञ की दोहरी भूमिका है। गांधी के रूप में वह शायद राजनीति का आध्यात्मीकरण करने की कोशिश कर रहे है। इसमें वह सफल हुए हों या न हुए हों राजनीति ने उनका व्यापारीकरण कर दिया है।

राजनीतिज्ञ को यह जानना जरूरी है कि समाज पूर्ण सत्य को सहन नहीं कर सकता और उन्हें पूर्ण सत्य नहीं बोलना चाहिए। अगर वह पूर्ण सत्य बोल रहे हैं तो यह उनकी राजनीति के लिए खराब होगा। गांधी जाति और वर्ण का समर्थन हमेशा क्यों कर रहे हैं क्योंकि उन्हें डर है कि उन्होंने इसका विरोध किया तो वे राजनीति में अपना स्थान खो देंगे। उनकी भ्रांति का कोई भी कारण हो, गांधी को यह कह दिया जाना चाहिए कि वह अपने आपको धोखा दे रहे हैं तथा वर्ण के नाम पर जाति का उपदेश देकर लोगों को धोखा दे रहे हैं।

(10)

गांधी कहते हैं कि हिन्दू और हिन्दू धर्म की जांच करने के लिए जो मानक मैंने अपनाए हैं, उन मानकों के आधार पर प्रत्येक वर्तमान धर्म शायद असफल हो जाएगा। यह शिकायत हो सकती है कि मेरे मानक ऊंचे है और यह सच हो सकता है, लेकिन प्रश्न यह नहीं है कि ये मानक ऊंचे हैं या नीचे हैं। प्रश्न यह है कि यह मानक लागू करने के लिए उचित हैं या नहीं। किसी अन्य मानक का कोई अर्थ नहीं है अगर यह माना जाए कि **धर्म आवश्यक रूप से लोगों के कल्याण के लिए होता है।** अब मैं मानता हूं कि हिन्दू तथा हिन्दू धर्म को जांचने के लिए जो मानक मैंने लागू किए हैं वे सबसे अधिक उपयुक्त हैं और इससे बेहतर मानक नहीं जानता हूं। यह निष्कर्ष सत्य हो सकता है कि यदि मेरे मानक लागू किए जाएं तो प्रत्येक वर्तमान धर्म असफल हो जाएगा लेकिन यह तथ्य हिन्दू धर्म के हिमायती गांधी को दिलासा या और अधिक आधार नहीं देता कि एक पागल आदमी के होने से दूसरे पागल आदमी को दिलासा हो या एक अपराधी होने से दूसरे अपराधी को दिलासा हो। मैं गांधी को आश्वासन देना चाहता हूं कि यह केवल हिन्दू और हिन्दू धर्म की असफलता नहीं है जिसने मेरे मन में घृणा और अवमानना की भावना भर दी है जिसका मुझ पर आरोप लगाया गया है। मैं मानता हूं कि दुनिया एक अपूर्ण दुनिया है और जो भी इसमें जीना चाहता है उसे अपूर्णता को सहन करना चाहिए। लेकिन जब कि मैं समाज की अपूर्णता तथा कमियों में जीने के लिए तैयार हूं जिसमें मुझे कठिनाई से आगे बढ़ना मेरी नियति है तो महसूस करता हूं कि उस समाज में जीने के लिए मैं सहमत नहीं हूं जो गलत आदर्शों को संजोए रखता है या एक ऐसा समाज जिसके आदर्श सही हैं, परंतु वह अपने सामाजिक जीवन को उन आदर्शों के अनुरूप ढालना नहीं चाहता है। **अगर मुझे हिन्दू और हिन्दू धर्म से ऊब पैदा होती है तो यह इसलिए है क्योंकि मुझे विश्वास है कि वे गलत सिद्धांतों और गलत सामाजिक जीवन का पोषण करते हैं।** हिन्दू और हिन्दू धर्म से मेरा झगड़ा उनके सामाजिक आचरण की अपूर्णता से नहीं है। यह बहुत अधिक मौलिक है। यह झगड़ा उनके सिद्धांतों से है।

(11)

मुझे प्रतीत होता है कि हिन्दू समाज को नैतिक पुनरुद्धार की आवश्यकता है जिसे विलंबित करना खतरनाक होगा। प्रश्न यह है कि **इस नैतिक पुनरुद्धार को कौन निर्धारित और नियंत्रित कर सकता है? स्पष्ट रूप से वे लोग जो अपना बौद्धिक पुनरुद्धार कर चुके है और वे जो इतने ईमानदार हैं कि बौद्धिक मुक्ति से पैदा दृढ़ विश्वास को दिखाने का साहस जिनके पास है।** इस मानक से जांचने से पता चलता है कि माने हुए हिन्दू नेता मेरे विचार से इस कार्य के लिए बिल्कुल अयोग्य हैं। यह

कहना असंभव है कि वे प्रारंभिक रूप से भी बौद्धिक पुनरुद्धार कर चुके हैं। अगर उन्होंने अपना बौद्धिक पुनरुद्धार कर लिया है तो ये न तो अशिक्षित बहुसंख्या की तरह अपने आपको धोखा देंगे और न ही वे आदिम अज्ञान का फायदा ही उठाएंगे जैसा कि आजकल देखा जाता है। टुकड़े-टुकड़े होते हिन्दू समाज के बावजूद भी ये नेतागण निर्लज्जता से पुराने सिद्धांतों की दुहाई देंगे, जिनका हर हालत में वर्तमान से संबंध समाप्त हो चुका है जो आरंभिक दिनों में कितने भी उपयुक्त रहे हों। वे अब मार्गदर्शक की बजाए एक चेतावनी बन चुके हैं। वे प्रारंभिक सिद्धांतों के प्रति अभी भी रहस्यपूर्ण सम्मान रखते हैं जो उन्हें अनिच्छुक नहीं बल्कि समाज की नींव की जांच करने का विरोधी बनाते हैं। हिन्दू लोग वास्तव में अपनी मान्यता के निर्माण में अविश्वसनीय रूप से ध्यान नहीं देते। यही हाल हिन्दू नेताओं का है। बदतर बात यह है कि जब कोई उनकी संगति छुड़ाने का प्रस्ताव करता है तो वे अपनी मान्यताओं के लिए अवैध भावावेश से भर जाते है। गांधी कोई अपवाद नहीं। **ऐसा लगता है कि गांधी सोचने में विश्वास नहीं करते। वह संतों का अनुसरण करने को प्राथमिकता देते हैं। एक रूढ़िवादी की तरह वे पवित्र धारणा में श्रद्धा रखते हैं उन्हें डर है कि यदि एक बार उन्होंने सोचना शुरू किया तो कई आदर्शों और मान्यताओं का जिनसे वह चिपके हुए हैं सत्यानाश हो जाएगा।** प्रत्येक को उनसे सहानुभूति होनी चाहिए। स्वतंत्र सोच का प्रत्येक कार्य स्पष्टता स्थिर दुनिया के कुछ भाग को संकट में डाल देता है लेकिन यह भी उतना ही सच है कि संतों पर निर्भर रहकर ही हम सत्य को नहीं जान सकते। आखिरकार संत भी मनुष्य हैं और जैसा कि लार्ड बेलफोर ने कहा है, "सुअर की थूथनी से अधिक मनुष्य का दिमाग सत्य का पता लगाने वाला उपकरण नहीं है।" जहां तक वह सोचते हैं मुझे वह हिन्दुओं के पुरातन ढांचे के लिए समर्थन ढूंढने के लिए बुद्धि का दुरुपयोग करते प्रतीत होते हैं। वह इसके सबसे प्रभावशाली समर्थक हैं और इसलिए हिन्दुओं के सबसे बड़े दुश्मन हैं।

गांधी से अलग ऐसे हिन्दू नेता भी है जो केवल विश्वास और अनुसरण करने से ही संतुष्ट नहीं हैं। **वे सोचने का साहस करते हैं और अपनी सोच के परिणाम के अनुसार कार्य करते हैं लेकिन दुर्भाग्यवश या तो वे बेईमान लोग हैं या जब लोगों को सही मार्गदर्शन देने का प्रश्न उठता है तो वे उदासीन बन जाते हैं।** लगभग सभी ब्राह्मणों ने जाति के नियम का उल्लंघन किया है। जूते बेंचने वाले ब्राह्मणों की संख्या उनसे अधिक है जिन्होंने पुरोहिताई छोड़ दी है। उन्होंने न केवल ऐसे व्यवसाय अपना लिए हैं जो उनके लिए शास्त्रों द्वारा वर्जित हैं। लेकिन ऐसे कितने ब्राह्मण हैं जो रोज जाति का नियम तोड़ते हैं, जो जाति और शास्त्रों के विरूद्ध उपदेश देंगे? क्योंकि उसकी मूल प्रवृत्ति और सैनिक विवेक उनकी दृढ़ धारणा का समर्थन नहीं कर सकता

लेकिन जो जाति के सिद्धांत और शास्त्रों की पवित्रता के कट्टर समर्थक हैं। यह दोगलापन क्यों? **क्योंकि वे महसूस करते हैं कि यदि जाति का जुआ लोगों ने उतार फेंका तो ब्राह्मण वर्ण की सत्ता और सम्मान के लिए वे संकट पैदा कर देंगे।** बुद्धिजीवी वर्ग की इस बेईमानी से आम लोग उनके विचारों के फल से वंचित हो जाते हैं। यह एक लज्जाजनक तथ्य है।

मैथ्यू आरनोल्ड के शब्द हैं कि "हिन्दू दो दुनिया में विचार रहे हैं एक है मृत दुनिया और दूसरी शक्ति रहित जन्म लेने वाली।" उन्हें क्या करना चाहिए? गांधी जिससे वे मार्गदर्शन की अपील करते हैं वह सोचने में विश्वास नहीं करते इसलिए मार्गदर्शन नहीं कर सकते जो अनुभव की कसौटी पर खरा उतरे। **बुद्धिजीवी वर्ग जिनकी ओर लोग मार्गदर्शन के लिए निहारते हैं वे या तो अधिक बेईमान हैं या उदासीन, इसलिए सही दिशा की ओर जाने की शिक्षा उन्हें नहीं मिल पाती है।** इस त्रासदी की स्थिति में हम विलाप करते हुए कह सकते हैं अरे हिंदुओं तुम्हारे नेतागण ऐसे हैं।

* * * * *